ISSN 2320-4443

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड २८ अंक १-४
दिसंबर २००७ - नवंबर २००८
भारतीय सौर मार्गशीर्ष - कार्तिक शके १९२९-३०
प्रकाशन वर्ष - अक्तूबर, २०१५

जैन दर्शन विशेषांक

सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

परामर्श (हिन्दी)

सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र विभाग की चिंतनपरक त्रैमासिक पत्रिका

संस्थापक संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे

प्रधान संपादक : सुरजीत कौर चहल

संयुक्त संपादक : हेमलता मोरे

कार्यकारी संपादक : मोहित टण्डन

संपादक मंडल

प्रदीप गोखले

अम्बिकादत्त शर्मा

कालीचरण पाण्डेय

सलाहकार संपादक मंडल

सत्यपाल गौतम

पी.आर. भट्टट

राकेश चंद्र

संपादकीय सहायक

सुनील राऊत

प्रकाशनार्थ लेखनसामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्राचार के लिए :
प्रधान संपादक, परामर्श (हिन्दी), दर्शनशास्त्र विभाग, सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय, पुणे ४११००७

सदस्यता शुल्क :

त्रैवार्षिक	संस्थाओं के लिए		रू. ४००/-
	व्यक्तियों के लिए		रू. ३००/-
वार्षिक	संस्थाओं के लिए		रू. १५०/-
	व्यक्तियों के लिए		रू. १२५/-
एक प्रति का मूल्य			रू. ४०/-
किताब / ग्रंथ विज्ञापन का मूल्य		आधा पन्ना:	रू. ३००/- प्रति अंक
			रू. ९००/- प्रति ४ अंक
		पूरा पन्ना:	रू. ५००/- प्रति अंक
			रू. १५००/- प्रति ४ अंक

सदस्यता शुल्क मनीऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट द्वारा **वित्त व लेखा अधिकारी, सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय** के नाम पत्रिका के पते पर भेजा जाए।

अंक न मिलने की सूचना अंक प्रकाशित होने के बाद एक महीने के भीतर मिलने पर, अंक बचे हों तो, पुनः भेजा जाएगा।

सम्पादकीय

इस वर्ष परामर्श (हिन्दी) के नये सम्पादक मण्डल का गठन किया गया है। हमारा प्रयास रहेगा कि पूर्व की भांति आगे भी पत्रिका में दर्शन विषय के गुणवत्तापूर्ण एवं मौलिक लेखों का प्रकाशन निर्बाध गति से होता रहे। पत्रिका को अद्यतन करने के उद्देश्य से इसके पिछले अंकों को संयुक्त रूप से प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया है। इसी क्रम में वर्तमान अंक 'जैन दर्शन विशेषांक' के रूप में प्रस्तुत है। भारत की प्राचीन सभ्यता का सबसे महत्त्वपूर्ण पहचान बिन्दु है इसकी दर्शन परम्परा। कालक्रम में विकसित हुई यह दर्शन परम्परा भारतीय संस्कृति की विविधता की परिचायक है। इस परम्परा में विभिन्न दर्शन समूहों का विकास हुआ। सैद्धांतिक मत विभाजन होते हुये भी इन समूहों का अनवरत गतिमान सह अस्तित्व ही भारतीय संस्कृति को अनूठा बनाता है। यहाँ विशेषकर जैन दार्शनिक चिंतन उल्लेखनीय है जो सत् व ज्ञान का बहुलवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है और जिसकी परिणति व्यवहार के स्तर पर सर्वसमावेशी बहुलवादी सांस्कृतिक सहअस्तित्व में होती है। वर्तमान विश्व में राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक व पर्यावरणीय संकटों को देखते हुये जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा एवं आचारमीमांसा और भी प्रासंगिक लगती है। जैन दर्शन के इन्हीं विविध पहलुओं को एक साथ रखने के उद्देश्य से पत्रिका का यह अंक 'जैन दर्शन विशेषांक' के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि इसे पर्याप्त एवं पूर्ण कहना उचित न होगा, फिर भी आशा है कि यह अंक शिक्षकों, विद्यार्थियों एवं सामान्य पाठकों के लिये उपयोगी सिद्ध होगा।

प्रधान सम्पादक

श्रद्धांजलि

परामर्श के पूर्व सम्पादक एवं दर्शनशास्त्र विभाग, पुणे विश्वविद्यालय के संस्थापकों में से एक प्रो. मोरेश्वर प्रभाकर मराठे का निधन २२ जून २०१५ को ७६ वर्ष की आयु में हो गया। उन्होंने १९७१ से १९९९ तक विभाग में अध्यापन एवं प्रशासनिक कार्य किया। विभाग की स्थापना एवं निर्माण के प्रारम्भिक वर्षों में प्रो. मराठे ने अपनी विद्वता, शैक्षणिक व प्रशासनिक कुशलता से विभाग के विकास में बहुमूल्य योगदान दिया। वह एक समर्पित शिक्षक, गंभीर संशोधक एवं एक कर्मठ प्रशासक थे। प्राचीन भारतीय दर्शन की परम्परा को संरक्षित व जीवित रखने में उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया। उन्होंने भारतीय व पाश्चात्य दर्शन दोनों परम्पराओं का अध्ययन एवं अध्यापन किया। ज्ञानमीमांसा और तर्कशास्त्र पर उनके व्याख्यानों को उनके विद्यार्थी आज भी स्मरण करते हैं। विद्यार्थियों की शैक्षणिक ही नहीं बल्कि दैनिक, व्यवहारिक समस्याओं के निदान के लिये तत्पर रहना उनके स्वभाव में था। प्रो. मराठे की लिखित एवं सम्पादित अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। साथ ही राष्ट्रीय–अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिकाओं में भी उनके लेख प्रकाशित हुये हैं। प्रो. मराठे इंडियन फिलॉसॉफिकल क्वार्टर्ली (आई. पी. क्यू.) और परामर्श (हिन्दी) के सम्पादक भी रहें। दर्शन में उनके योगदान के लिये उन्हें अखिल भारतीय दर्शन परिषद द्वारा 'स्वामी प्रणवानन्द लाईफ टाइम अचीवमेंट अवार्ड' से सम्मानित भी किया गया। प्रो. मराठे ने दर्शन का मात्र शिक्षण ही नहीं किया वरन् उसे जिया भी। अपनी वसीयत में उन्होंने अपना शरीर एक मेडिकल कॉलेज को और अपना सारा धन सामाजिक संस्थाओं को समाज के कल्याण हेतु दान कर दिया। ऐसे कर्मठ व सत्यनिष्ठ आचार्य को हमारी श्रद्धांजलि !

श्रद्धांजलि

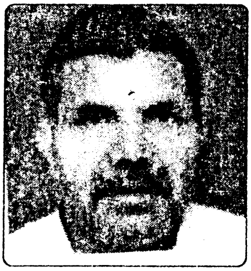

दर्शनशास्त्र विभाग, सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय के शिक्षक डॉ. रामभाऊ राठोड का निधन दिनांक १४ जून २०१४ को हो गया। इन्होंने १ अगस्त १९८४ से ५ मई २०११ तक विभाग में सेवा की। परामर्श की ओर से इनको भावभीनी श्रद्धांजलि।

श्रद्धांजलि

दर्शनशास्त्र विभाग, सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय की शिक्षक डॉ. मीना केळकर का निधन दिनांक ०६ सितंबर २०१४ को हो गया। इन्होंने २३ मार्च १९७९ से ३१ अक्तुबर २००० तक विभाग में सेवा की। परामर्श की ओर से इनको भी भावभीनी श्रद्धांजलि।

परामर्श (हिन्दी) के प्रकाशन–स्वामित्व सम्बन्धी
फार्म ४

१. प्रकाशन स्थल	:	तत्त्वज्ञान विभाग, सावित्रीबाई फुले पुणे विद्यापीठ, पुणे- ४११००७
२. प्रकाशन अवधि	:	त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम व पता	:	प्रो. सुरजीत कौर चहल, तत्त्वज्ञान विभाग, सावित्रीबाई फुले पुणे विद्यापीठ, पुणे- ४११००७
४. प्रकाशक का नाम व पता	:	प्रो. सुरजीत कौर चहल, तत्त्वज्ञान विभाग, सावित्रीबाईफुले पुणे विद्यापीठ, पुणे- ४११००७
५. संपादक का नाम व पता	:	प्रो. सुरजीत कौर चहल, तत्त्वज्ञान विभाग, सावित्रीबाईफुले पुणे विद्यापीठ, पुणे- ४११००७
६. परामर्श त्रैमासिक पत्रिका के प्रकाशन का स्वामित्व रखनेवालेव्यक्ति/संस्था का नाम व पता	:	तत्त्वज्ञान विभाग, सावित्रीबाई फुले पुणे, विद्यापीठ, पुणे- ४११००७

मैं, सुरजीत कौर चहल, यह घोषित करती हूँ कि उपर्युक्त दी गई सूचनाएँ मेरे संज्ञान में सत्य एवं पुष्ट हैं।

सुरजीत कौर चहल

हेमचंद्र की प्रमाणमीमांसा में प्रमाणलक्षण

सागरमल जैन

जैन न्याय का विकास :

न्याय एवं प्रमाण-चर्चा के क्षेत्र में सामान्य रूप से जैन दार्शनिकों का और विशेष रूप से आचार्य हेमचन्द्र के ग्रन्थ प्रमाणमीमांसा का क्या अवदान है, यह जानने के लिए जैन न्याय के विकासक्रम को जानना आवश्यक है। यद्यपि जैनों का पंचज्ञान का सिद्धान्त पर्याप्त प्राचीन है और जैन विद्या के कुछ विद्वान उसे पार्श्व के युग तक ले जाते हैं, किन्तु जहाँ तक प्रमाण विचार का क्षेत्र है उसमें जैनों का प्रवेश नैयायिकों, मीमांसकों और बौद्धों के पश्चात् ही हुआ है। प्रमाण चर्चा के प्रसंग में जैनों का प्रवेश चाहे परवर्ती हो, किन्तु इस कारण वे इस क्षेत्र में वे जो विशिष्ट अवदान दे सके हैं, वह हमारे लिए गौरव की वस्तु है।

इस क्षेत्र में परवर्ती होने का लाभ यह हुआ कि जैनों ने पक्ष और प्रतिपक्ष के सिद्धान्तों के गुण-दोषों का सम्यक मूल्यांकन करके फिर अपने मन्तव्य को इस रूप में प्रस्तुत किया कि वह पक्ष और प्रतिपक्ष की तार्किक कमियों का परिमार्जन करते हुए एक व्यापक और समन्वयात्मक सिद्धान्त बन सके। पं. सुखलालजी के अनुसार जैन प्रमाण-मीमांसा ने मुख्यत: तीन युगों में अपने क्रमिक विकास को पूर्ण किया है : १. आगम युग, २. अनेकान्त स्थापन युग और ३. न्याय एवं प्रमाण स्थापन युग। यहाँ हम इन युगों की विशिष्टताओं की चर्चा न करते हुए केवल इतना कहना चाहेंगे कि जैनों ने अपने अनेकान्त सिद्धान्त को स्थिर करके फिर प्रमाण विचार के क्षेत्र में कदम रखा था। उनके इस परवर्ती प्रवेश का एक लाभ तो यह हुआ कि पक्ष और प्रतिपक्ष का अध्ययन कर वे उन दोनों की कमियों और तार्किक असंगतियों को समझ सके तथा पूर्व-विकसित उनकी अनेकान्त दृष्टि का लाभ यह हुआ कि वे उन दोनों के मध्य समन्वय स्थापित कर सके। उन्होंने पक्ष और प्रतिपक्ष के बीच समन्वय स्थापित करने प्रयास किया, उसी में उनका सिद्धान्त स्थिर हो गया और यही उनका न्याय एवं क्षेत्र में विशिष्ट अवदान कहलाया। इस क्षेत्र में उनकी भूमिका सदैव एक तटस्थ न्यायाधीश की रही। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्तों की समीक्षा के माध्यम से सदैव अपने चिन्तन को समृद्ध किया और जहाँ आवश्यक लगा, वहाँ अपनी पूर्व मान्यताओं को संशोधित और परिमार्जित भी किया। चाहे सिद्धसेन हो या समन्तभद्र, अकलंक हो या विद्यानन्द, हरिभद्र हो या हेमचन्द्र सभी ने अपने ग्रन्थों के निर्माण में जहाँ

परामर्श (हिन्दी), खण्ड २८, अंक १-४, दिसम्बर २००७-नवम्बर २००८, प्रकाशन वर्ष अक्तुबर २०१५

अपनी परम्पराओं के पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों का अध्ययन किया, वही अन्य परम्परा के पक्ष और प्रतिपक्ष का भी गम्भीर अध्ययन किया। अत: जैन न्याय या प्रमाण-विचार स्थिर न रहकर गतिशील बना रहा। वह युग-युग में परिष्कृत, विकसित और समृद्ध होता रहा।

प्रमाणमीमांसा का उपजीव्य

आचार्य हेमचन्द्र का प्रमाणमीमांसा नामक यह ग्रन्थ भी इसी क्रम में हुए जैन न्याय के विकास का एक चरण है। प्रमाणमीमांसा एक अपूर्ण ग्रन्थ है। न तो मूलग्रन्थ और न उसकी वृत्ति ही पूर्ण है। उपलब्ध मूल सूत्र १०० हैं और इन्हीं पर वृत्ति भी उपलब्ध हैं। इसका तात्पर्य यही है कि यह ग्रन्थ आचार्य हेमचन्द्र अपने जीवन-काल में पूर्ण नहीं कर सके थे। इसका फलित यह है कि उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम चरण में ही इस कृति का लेखन प्रारम्भ किया होगा। यह ग्रन्थ भी कणादसूत्र या वैशेषिकसूत्र, ब्रह्मसूत्र एवं तत्त्वार्थसूत्र की तरह सूत्र-शैली का ग्रन्थ है, फिर भी इस ग्रन्थ की वर्गीकरण शैली भिन्न ही है। आचार्य की योजना इसे पाँच अध्यायों में समाप्त करने की थी और वे प्रत्येक अध्याय को दो-दो आह्निकों में विभक्त करना चाहते थे, किन्तु आज इसके मात्र दो अध्याय अपने दो-दो आह्निकों के साथ उपलब्ध हैं। अध्याय और आह्निक का यह विभाग क्रम इसके पूर्व अक्षपाद के न्यायसूत्रों एवं जैन परम्परा में अकलंक के ग्रन्थों में देखा जाता है। अपूर्ण होने पर भी इस ग्रन्थ की महत्ता व मूल्यवत्ता अक्षुण्ण बनी हुई है। आचार्य हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ के लेखन में अपनी परम्परा और अन्य दार्शनिक परम्पराओं के न्याय सम्बन्धी ग्रन्थों का पूरा अवलोकन किया है। पं. सुखलालजी के शब्दों में "आगमिक साहित्य के अतिविशाल खजाने के उपरान्त 'तत्त्वार्थ' से लेकर 'स्याद्वादरत्नाकर' तक के संस्कृत तार्किक जैन साहित्य की भी बहुत बडी राशि हेमचन्द्र के परिशीलन पथ में आई, जिससे हेमचन्द्र का सर्वांगीण सर्जक व्यक्तित्व सन्तुष्ट होने के बजाय एक ऐसे नए सर्जन की ओर प्रवृत्त हुआ, जो अब तक के जैन वाङ्मय में अपूर्व स्थान रख सके।"[१] वस्तुत: निर्युक्ति, विशेषावश्यकभाष्य, तत्त्वार्थ और उसका स्वोपज्ञ भाष्य जैसे आगमिक एवं दार्शनिक ग्रन्थ सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र, अकलंक, माणिक्यनन्दी और विद्यानन्द की प्राय: समग्र कृतियाँ इसकी उपादान सामग्री बनी है। पं. सुखलाल जी की मान्यता है कि प्रभाचन्द्र के 'प्रमेयकमलमार्तण्ड', अनन्तवीर्य की 'प्रमेयरत्नमाला' और वादिदेवसूरि के 'स्याद्वादरत्नाकर' का इसमें स्पष्ट उपयोग हुआ है। फिर भी

उनकी दृष्टि में अकलंक और माणिक्यनन्दी का मार्गानुगमन प्रधानतया देखा जाता है। इसी प्रकार बौद्ध और वैदिक परम्परा के वे सभी ग्रन्थ, जिनका उपयोग उनकी कृति के आधार बने हैं। पुनः वे स्पष्ट रूप से कहते है कि बौद्ध परम्परा के दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, अर्चट और शान्तरक्षित तथा वैदिक परम्परा के कणाद, भासर्वज्ञ, व्योमशिव, श्रीधर, अक्षपाद, वात्सायन, उद्योतकर, जयन्त, वाचस्पति मिश्र, शबर, प्रभाकर और कुमारिल की कृतियाँ उनके अध्ययन का विषय रही हैं।[२] वस्तुतः अपनी परम्परा के और प्रतिपक्षी बौद्ध एवं वैदिक परम्परा के इन विविध ग्रन्थों के अध्ययन के परिणामस्वरूप ही हेमचन्द्र जैन न्याय के क्षेत्र में एक विशिष्ट कृति प्रदान कर सके। हेमचन्द्र को इस कृति की आवश्यकता क्यों अनुभूत हुई? जब उनके सामने अभयदेव का 'वादार्णव' और वादिदेव के 'स्याद्वादरत्नाकर' जैसे अपनी परम्परा के सर्वसंग्राहक ग्रन्थ उपस्थित थे, फिर उन्होंने यह ग्रन्थ क्यों रचा? इस सम्बन्ध में पं. सुखलालजी कहते हैं कि "यह सब हेमचन्द्र के सामने था, पर उन्हें मालूम हुआ कि न्याय-प्रमाण-विषयक (इस) साहित्य में कुछ भाग तो ऐसा है, जो अति महत्त्व का होते हुए भी एक-एक विषय की ही चर्चा करता है या बहुत संक्षिप्त है। दूसरा (कुछ) भाग ऐसा है कि जो सर्व विषय संग्राही तो है पर वह उत्तरोत्तर इतना अधिक विस्तृत तथा भाषा की अपेक्षा क्लिष्ट है कि सर्वसाधारण के अभ्यास का विषय नहीं बन सकता। इस विचार से हेमचन्द्र ने एक ऐसा प्रमाणविषयक ग्रन्थ बनाना चाहा जो उनके समय तक चर्चित एक भी दार्शनिक विषय की चर्चा से खाली न रहे, फिर भी वह सामान्य बुद्धि के पाठक के पठन-पाठन के योग्य तथा मध्यम कद का हो। इसी दृष्टि से 'प्रमाणमीमांसा' का जन्म हुआ।"[३]

यह ठीक है कि प्रमाणमीमांसा सामान्य बौद्धिक स्तर के पाठकों के लिए मध्यम आकार का पठन-पाठन के योग्य ग्रन्थ है, किन्तु इससे उसके वैदुष्यपूर्ण और विशिष्ट होने में कोई आँच नहीं आती है। यद्यपि हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ की रचना में अपने एवं इतर परम्परा के पूर्वाचार्यों का उपयोग किया है, फिर भी इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र अपने स्वतन्त्र चिन्तन और प्रतिभा का उपयोग भी उन्होंने किया है। अतः इसकी मौलिकता को नकारा नहीं जा सकता है। इस ग्रन्थ की रचना में अनेक स्थलों पर हेमचन्द्र ने विषय को अपने पूर्वाचार्यों की अपेक्षा अधिक सुसंगत ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है और इसी कारण ग्रन्थ में यत्र-तत्र उनके वैदुष्य और स्वतन्त्र चिन्तन के दर्शन होते हैं, किन्तु उस सबकी चर्चा इस लघु निबन्ध में कर पाना सम्भव नहीं है।

पं. सुखलालजी इस ग्रन्थ में हेमचन्द्र के वैशिष्ट्य की चर्चा अपने भाषा-टिप्पणों में की है, जिन्हे वहाँ देखा जा सकता है।[४] यहाँ तो हम मात्र प्रमाण-निरूपण में हेमचन्द्र के प्रमाणमीमांसा के वैशिष्ट्य तक ही अपने को सीमित रखेंगे।

प्रमाणमीमांसा में प्रमाणलक्षण

प्रमाणमीमांसा में हेमचन्द्र ने प्रमाण का लक्षण 'सम्यगर्थनिर्णयः' कह कर दिया है। यदि हम हेमचन्द्र द्वारा निरूपित इस प्रमाणलक्षण से शाब्दिक दृष्टि से तो नितान्त भिन्न ही है। वस्तुतः शाब्दिक दृष्टि से इसमें न तो 'स्व-पर-प्रकाशत्व' की चर्चा है, न बाध विवर्जित या अविसंवादित्व की, जबकि पूर्व के 'सभी जैन-आचार्यों ने अपने प्रमाण-लक्षण-निरूपण में इन दोनों की चर्चा अवश्य की है। इसमें 'अपूर्वता' को भी प्रमाण के लक्षण के रूप में निरूपित नहीं किया गया है, जिसकी चर्चा कुछ दिगम्बर जैनाचार्यों ने की है। न्यायावतार में प्रमाण के जो लक्षण निरूपित किये गये हैं, उनमें स्व-पर प्रकाशत्व और बाधविवर्जित होना - ये दोनों उसके आवश्यक लक्षण बताए गये हैं।[५] न्यायावतार की इस परिभाषा में भी बाधविवर्जित अविसंवादित्व का ही पर्याय है। जैन परम्परा में यह लक्षण बौद्ध-परम्परा के प्रभाव से गृहीत हुआ है।[६] जिसे अष्टशती आदि ग्रन्थों में स्वीकार किया गया है।[७] इसी प्रकार मीमांसकों के प्रभाव से अनधिगतार्थक होना या अपूर्व होना भी जैन प्रमाण लक्षण में सन्निविष्ट हो गया। अकलंक और माणिक्यनन्दी ने इसे भी प्रमाण-लक्षण के रूप में स्वीकार किया है।[८]

इस प्रकार जैन-परम्परा में हेमचन्द्र के पूर्व प्रमाण के चार लक्षण निर्धारित हो चुके थे-

१. स्व-प्रकाशक : 'स्व' की ज्ञान पर्याय का बोध कराने वाला।

२. पर-प्रकाशक : पदार्थ का बोध कराने वाला।

३. बाधविवर्जित या अविसंवादि।

४. अनधिगतार्थक या अपूर्व (सर्वथा नवीन)

इन चार लक्षणों में से 'अपूर्व' लक्षण का प्रतिपादन माणिक्यनन्दी के पश्चात दिगम्बर परम्परा में भी नहीं देखा जाता है। विद्यानन्द ने अकलंक और माणिक्यनन्दी की परम्परा से अलग होकर सिद्धसेन और समन्तभद्र के तीन ही लक्षण ग्रहण किये।[९] श्वेताम्बर परम्परा में किसी आचार्य ने प्रमाण का 'अपूर्व' लक्षण प्रतिपादित किया हो, ऐसा हमारे ध्यान में नहीं आता है। यद्यपि विद्यानन्द ने माणिक्यनन्दी के 'अपूर्व' लक्षण को महत्त्वपूर्ण नहीं माना, किन्तु उन्होंने 'व्यवसायात्मकता' को आवश्यक

समझा। परवर्ती श्वेताम्बर आचार्यों ने भी विद्यानन्द का ही अनुसरण किया है। अभयदेव, वादिदेवसूरि और हेमचन्द्र सभी ने प्रमाण-लक्षण-निर्धारण में 'अपूर्व' पद को आवश्यक नहीं माना है।

जैन परम्परा में हेमचन्द्र तक प्रमाण की जो परिभाषाएँ दी गई हैं, उन्हें पं. सुखलालजी ने चार वर्गों में विभाजित किया है -

१. प्रथम वर्ग में स्व पर अवभास वाला सिद्धसेन (सिद्धर्षि) और समन्तभद्र का लक्षण आता है,[१०] स्मरण रहे कि ये दोनों लक्षण बौद्धों एवं नैयायिकों के दृष्टिकोणों के समन्वय का फल है।

२. इस वर्ग में अकलंक और माणिक्यनन्दी की अनधिगत, अविसंवादि और अपूर्व लक्षण वाली परिभाषाएँ आती हैं। ये लक्षण स्पष्ट रूप से बौद्ध मीमांसकों के प्रभाव से आए है। ज्ञातव्य है कि न्यायावतार में 'बाधविवर्जित' रूप में अविसंवादित्व का लक्षण आ गया है।

३. तीसरे वर्ग में विद्यानन्द, अभयदेव और वादिदेवसूरि के लक्षणवाली परिभाषाएँ आती है जो वस्तुतः सिद्धसेन (सिद्धर्षि) और समन्तभद्र के लक्षणों का शब्दान्तरण मात्र है और जिनमें अवभास पद के स्थान पर व्यवसाय या निर्णीत पद रख दिया गया है।

४. चतुर्थ वर्ग में आचार्य हेमचन्द्र की प्रमाण-लक्षण की परिभाषा आती है, जिसमें 'स्व', बाधविवर्जित, अनधिगत या अपूर्व आदि सभी पद हटाकर परिष्कार किया गया है।

यद्यपि यह ठीक है कि हेमचन्द्र ने अपने प्रमाण-लक्षण निरूपण में नयी शब्दावली का प्रयोग किया है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने अपने पूर्व के जैनाचार्यों के प्रमाण-लक्षणों को पूरी तरह से छोड दिया है। यद्यपि इतना अवश्य है कि हेमचन्द्र ने दिगम्बराचार्य विद्यानन्द और श्वेताम्बरचार्य अभयदेव और वादिदेवसूरि का अनुसरण करके अपने प्रमाण-लक्षण में अपूर्व पद को स्थान नहीं दिया है। पं. सुखलालजी के शब्दों में उन्होंने 'स्व' पद, जो सभी पूववर्ती जैनाचार्यों की परिभाषा में था, निकाल दिया। अवभास, व्यवसाय आदि पदों को दाखिल किया[११] और उमास्वाति, धर्मकीर्ति, भासर्वज्ञ आदि के 'सम्यक्' पद को अपनाकर 'सम्यगर्थनिर्णयः' प्रमाण के रूप में अपना-प्रमाणलक्षण प्रस्तुत किया। इस परिभाषा या प्रमाण-लक्षण में 'सम्यक्' पद किसी सीमा तक पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रयुक्त बाधविवर्जित या

अविसंवादि का पर्याय माना जा सकता है 'अर्थ' शब्द का प्रयोग बौद्धों के विज्ञानवादी दृष्टिकोण का खण्डन करते हुए प्रमाण के 'पर' अर्थात् वस्तु के अवबोधक होने का सूचक है, जो जैनों के वस्तुवादी (Realistic) दृष्टिकोण का समर्थक भी है।

पुनः 'निर्णय' शब्द जहाँ एक ओर अवभास, व्यवसाय आदि का सूचक है, वहीं दूसरी ओर वह प्रकारान्तर से प्रमाण के 'स्वप्रकाशक' होने का भी सूचक है। इस प्रकार प्रमाण-लक्षण-निरूपण में अनधिगतार्थक या अपूर्वार्थग्राहक होना ही ऐसा लक्षण है, जिसका हेमचन्द्र ने पूर्ववर्ती श्वेताम्बर आचार्यों के समान परित्याग किया है। वस्तुतः स्मृति को प्रमाण मानने वाले जैनाचार्यों को यह लक्षण आवश्यक प्रतीत नहीं हुआ। श्वेताम्बर परम्परा ने तो उसे कभी स्वीकार ही नहीं किया। दिगम्बर परम्परा में भी अकलंक और माणिक्यनन्दी के पश्चात् विद्यानन्द ने इसका परित्याग कर दिया। इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने अपने पूर्वाचार्यों के दृष्टिकोणों का सम्मान करते हुए और उनके प्रमाण-लक्षणों को सन्निविष्ट करते हुए प्रमाणमीमांसा में 'प्रमाण' की एक विशिष्ट परिभाषा प्रस्तुत की है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्रमाण-लक्षण-निरूपण में 'स्व' पद क्यों नहीं रखा, इसका उत्तर स्वयं उन्होंने प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक के चतुर्थ पाद की स्वोपज्ञ टीका में दिया है, उन्होंने बताया है कि ज्ञान तो स्व-प्रकाश ही है, 'पर' का व्यावर्तक नहीं होने से लक्षण में इसका प्रवेश अनावश्यक है।[१२] पं. सुखलालजी के अनुसार ऐसा करके उन्होंने एक ओर अपने विचार-स्वातंत्र्य को स्पष्ट किया वही दूसरी ओर पूर्वाचार्यों के मत का खण्डन न करके, 'स्व' पद के प्रयोग की उनकी दृष्टि दिखाकर उनके प्रति आदर भी व्यक्त किया। ज्ञान के स्वभावतः स्व-प्रकाशक होने से उन्होंने अपने प्रमाण-लक्षण में 'स्व' पद नहीं रखा।[१३]

इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्रमाण-लक्षण में 'अधिगत' या 'अपूर्व' पद क्यों नहीं रखा? इसका उत्तर भी प्रमाणमीमांसा में धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य की चर्चा में मिल जाता है। भारतीय दर्शन में धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य को लेकर दो दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं। एक ओर न्याय-वैशेषिक और मीमांसकों के प्रभाकर एवं भाट्ट सम्प्रदाय कुछ सूक्ष्म मतभेदों को छोडकर सामान्यतया धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य को स्वीकार करते है, दूसरी ओर बौद्ध परम्परा सामान्य-व्यक्ति (प्रमाता) के ज्ञान में सूक्ष्म काल-भेद का ग्रहण नहीं होने से धारावाहिक ज्ञान को अप्रमाण मानती है। यद्यपि कुमारिल भट्ट की परम्परा भी अपने

प्रमाण–लक्षण में अपूर्व पद रखने के कारण सूक्ष्म काल–कला का भान मानकर ही उसमें प्रामाण्य का उत्पादन करती है। इसी प्रकार बौद्ध दार्शनिक अर्चट ने अपने हेतुबिन्दु की टीका में सूक्ष्म–कला के भान के कारण योगियों के धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण माना है।[१४]

जहाँ तक जैनों का प्रश्न है, सामान्यतया दिगम्बर आचार्यों ने अपने प्रमाण–लक्षण में 'अपूर्व' पद को स्थान दिया है, अत: उनके अनुसार धारावाहिक ज्ञान, जब क्षण भेदादि विशेष का बोध कराता हो और विशिष्ट प्रमाजनक हो तभी प्रमाण कहा जाता है। इसके विपरीत श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य अपने प्रमाण–लक्षण मे 'अपूर्व' पद नहीं रखते हैं और स्मृति के समान धारावाहिक ज्ञान को भी प्रमाण मानते हैं। श्वेताम्बर आचार्यों में हेमचन्द्र ने अपने प्रमाणलक्षण में 'अपूर्व' पद क्यों नहीं रखा, इसका उत्तर भी उनकी प्रमाणमीमांसा में मिल जाता है। आचार्य स्वयं ही स्वोपज्ञ टीका में इस सम्बन्ध में पूर्वपक्ष की उद्‌भावना करके उत्तर देते है। प्रतिपक्ष का कथन है कि धारावाहिक स्मृति आदि ज्ञान अधिगतार्थक पूर्वार्थक है और इन्हें सामान्यतया अप्रमाण समझा जाता है। यदि फिर भी इन्हें अप्रमाण मानते हो तो (तुम्हारा) सम्यगर्थ निर्णयरूप लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है? प्रतिपक्ष के इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य हेमचन्द्र ने कहा था कि यदि धारावाहिक ज्ञान और स्मृति प्रभाण है तो फिर प्रमाण के लक्षण में अपूर्व या अनधिगत पद निरर्थक हो जाता है। पं. सुखलालजी का कथन है कि ''श्वेताम्बर आचार्यों में हेमचन्द्र की खास विशेषता यह है कि उन्होंने गृहीतग्राही और ग्रहीष्यमाणग्राही में समत्व दिखाकर सभी धारावाहिक ज्ञानों में प्रामाण्य का जो समर्थन किया है, वह विशिष्ट है।[१५] यही कारण है कि हेमचन्द्र ने अपने प्रमाण–लक्षण में अपूर्व या अनधिगत पद की उद्घावना नहीं की है।

वस्तुत: हेमचन्द्र के प्रमाण–लक्षण की अवधारणा हमें पाश्चात्य तर्कशास्त्र के सत्य के संवादितासिद्धान्त का स्मरण करा देती है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र मे सत्यता निर्धारण के तीन सिद्धान्त है – संवादिता सिद्धान्त, गति सिद्धान्त और उपयोगितावादी या अर्थक्रियावादी सिद्धान्त। उपर्युक्त तीन सिद्धान्तों में हेमचन्द्र का सिद्धान्त अपने प्रमाण–लक्षण में अविसंवादित्व और अपूर्वता के लक्षण नहीं होने से तथा प्रमाण के सम्यगर्थ निर्णय के रूप में परिभाषित करने के कारण सत्य के संवादिता सिद्धान्त के निकट है। इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाण–लक्षण–निरूपण में अपने पूर्वाचार्यों के मतों को समाहित करते हुए भी एक विशेषता प्रदान की है।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. पं. सुखलालजी, (सम्पा.), 'प्रमाणमीमांसा', प्रस्तावना, पृ. १६
२. वही, पृ. १७.
३. वही, पृ. १६-१७
४. वही, भाषा-टिप्पणानि, पृ. १-१४३
५. प्रमाण स्वपराभासि ज्ञान बाधविवर्जितम्, न्यायावतार, १.
६. प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः, प्रमाणवार्तिक, २/१
७. प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम् अष्टशती/अष्टसहस्री. पृ. १७५.
८. (अ) अनधिगतार्थाधिगमलक्षत्त्वात्-वही.
(ब) स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्-परीक्षामुख, १/१
९. पं. सुखलालजी, 'प्रमाणमीमांसा', भाषाटिप्पणनि, पृ. १६.
१०. ज्ञातव्य है कि प्रो. एम. ए. ढाकी के अनुसार 'न्यायावतार सिद्धसेन की रचना नहीं है, जैसा कि पं. सुखलालजी ने मान लिया था, अपितु उनके अनुसार यह सिद्धर्षि की रचना है, देखें - M. A. Dhaky's artical "The Date and Author of Nyayavatara, 'Nirgrantha', Shardaben Chimanbha Educational Research Centre, Ahmedabad, Vol. 1,
११. पं. सुखलालजी, 'प्रमाणमीमांसा', भाषाटिप्पणनि, पृ. ७
१२. वही, मूलग्रन्थ और उसकी स्वोपज्ञ टीका, १/१/३, पृ. ४
१३. वही, भाषाटिपणनि, पृ. ११
१४. वही. पृ. १२-१३
१५. वही, मूलग्रन्थ और उसकी स्वोपज्ञ टीका, १/१/४, पृ. ४-५
१६. वही, भाषाटिप्पणनि, पृ. १४

जैन दर्शन का नय सिद्धांत

सागरमल जैन

कथन का वाच्यार्थ और नय

शब्दों अथवा कथन के सही अर्थ को समझने के लिए यह आवश्यक है कि श्रोता न केवल वक्ता के शब्दों की ओर जाये, अपितु उसके अभिप्राय को भी समझने का प्रयत्न करें अनेक बार समान पदावली के वाक्य भी वक्ता के अभिप्राय, वक्ता की कथनशैली और तात्कालिक सन्दर्भ के आधार पर भिन्न अर्थ के सूचक हो जाते हैं। वक्ता के अभिप्राय को समझने के लिए जैन आचार्यों ने नय और निक्षेप ऐसे दो सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। नय और निक्षेप के सिद्धान्तों का मूलभूत उद्देश्य यही है कि श्रोता-वक्ता के द्वारा कहे गये शब्दों अथवा कथनों का सही अर्थ जान सके। नय की परिभाषा करते हुए जैन आचार्यों ने कहा है कि 'वक्ता के कथन का अभिप्राय ही नय कहा जाता है ।'[1] कथन के सम्यक् अर्थ निर्धारण के लिए वक्ता के अभिप्राय एवं तात्कालिक सन्दर्भ को ध्यान में रखना आवश्यक है। नय सिद्धान्त हमें वह पद्धति बताता है जिसके आधार पर वक्ता के आशय एवं कथन के तात्कालिक सन्दर्भ (Context) को सम्यक् प्रकार से समझा जा सकता है। जैन दर्शन में नय और निक्षेप की अवधारणाएँ स्याद्वाद और सप्तभंगी के विकास के भी पूर्व की हैं। तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय में हमें नय एवं निक्षेप की अवधारणाएँ स्पष्ट रूप में उपलब्ध हो जाती हैं, जबकि वहाँ स्याद्वाद और सप्तभंगी की स्पष्ट अवधारणा अनुपस्थित है। तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय का 'अर्पितानार्पिते सिद्धेसूत्र' भी मूलतः नय-सिद्धान्त अर्थात सामान्य एवं विशेष दृष्टि का ही सूचक है। आगमिक विभाज्यवाद एवं दार्शनिक नयवाद की अवधारणा के आधार पर ही आगे स्याद्वाद और सप्तभंगी का विकास हुआ है। यदि हम गम्भीरतापूर्वक देखें तो जैनों के नय, निक्षेप स्याद्वाद और सप्तभंगी इन सभी सिद्धान्तों का सम्बध भाषा-दर्शन एवं अर्थ-विज्ञान (Science of meaning) से है।

नयों की अवधारणा को लेकर जैनाचार्यों ने यह प्रश्न उठाया है कि यदि वक्ता का अभिप्राय अथवा वक्ता की कथन शैली ही नय है तो फिर नयों के कितने प्रकार होंगे? इस प्रश्न का उत्तर देते हुऐ आचार्य सिद्धसेन द्वारा कहा गया है कि जितने वचन-पथ (कथन करने की शैलियाँ) हो सकती है, उतने ही नयवाद हो सकते है। वस्तुतः नयवाद भाषा के अर्थ-विश्लेषण का सिद्धान्त है। भाषायी अभिव्यक्ति के

जितने प्रारूप हो सकते है उतने ही नय हो सकते हैं, फिर भी मोटे रूप से जैन दर्शन में दो, पाँच और सप्त नयों की अवधारणा मिलती है। यद्यपि इन सात नयों के अतिरिक्त निश्चय नय और व्यवहार नय तथा द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय का भी उल्लेख जैन ग्रन्थों में है, किन्तु ये नय मूलत: तत्त्वमीमांसा या अध्यात्मशास्त्र से सम्बन्धित है। जबकि नैगम आदि सप्त नय मूलत: भाषा-दर्शन से सम्बन्धित हैं।

नय और निक्षेप दोनों ही सिद्धान्त यद्यपि शब्द एवं कथन के वाच्यार्थ (meaning) का निर्णय करने से सम्बन्धित है, फिर भी दोनों में अन्तर है। निक्षेप मूलत: शब्द के अर्थ का निश्चय करता है, जबकि नय वाक्य या कथन के अर्थ का निश्चय करता है। जैन दर्शन में नयों का विवेचन तीन रूपों में मिलता है : (१) निश्चयनय और व्यवहारनय (२) द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय तथा (३) नैगमादि सप्तनय। भगवतीसूत्र आदि आगमों में नयों के प्रथम एवं द्वितीय वर्गीकरण ही वर्णित हैं, जबकि समवायांग? अनुयोगद्वार, नन्दीसूत्र एवं तत्त्वार्थसूत्र में नयों का तृतीय वर्गीकरण नैगमादि के रूप में पाया जाता है, इसका भाष्य मान्य पाठ नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र एवं शब्द ऐसे पाँच नयों का उल्लेख करता है, जबकि सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ नैगम आदि सात नयों का उल्लेख करता है। निश्चय और व्यवहार नय मूलत: ज्ञान पुरक दृष्टिकोण से सम्बन्धित हैं। वे वस्तु स्वरूप के विवेचन की शैलियाँ हैं, जबकि द्रव्यार्थिक और पर्यायर्थिक नय वस्तु के शाश्वत पक्ष और परिवर्तनशील पक्ष का विचार करते हैं। सप्त नयों की चर्चा में जहाँ तक नैगमादि प्रथम चार नयों का प्रश्न है वे मूलत: वस्तु के सामान्य और विशेष स्वरूप की चर्चा करते हैं। जबकि शब्दादि तीन नय वस्तु का कथन किस प्रकार से किया गया है, यह बताते हैं।

निश्चयनय और व्यवहारनय

ज्ञान की प्राप्ति के तीन साधन है - (१) अपरोक्षानुभूति (२) इन्द्रियजन्यनुभूति और (३) बुद्धि। इनमें अपरोक्षानुभूति या आत्मानुभूति निश्चयनय की और इन्द्रियानुभूति या बुद्धि व्यवहारनय की प्रतीक है। तत्त्वमीमांसा में सत् के स्वरूप की व्याख्या के लिए प्रमुख रूप से निश्चय और व्यवहार ये दो दृष्टिकोणों के आधार पर होती है। जैन दर्शन के अनुसार सत् अपने-आप में एक पूर्णता है, अनन्तता है। इन्द्रियानुभूति, बुद्धि, भाषा और वाणी अपनी-अपनी सीमा के कारण अनन्तगुणधर्मात्मक सत् के एकांश का ही ग्रहण कर पाते हैं, यही एकांश का बोध नय कहलाता है। दूसरे शब्दों में, सत् के अनन्त पक्षों को जिन-जिन दृष्टिकोणों से देखा जाता है, वे सभी नय

कहलाते हैं।

नयों का स्वरूप

जैन दार्शनिकों का कहना है कि सत् की अभिव्यक्ति के लिए भाषा के जितने प्रारूप (कथन के ढंग) हो सकते है, उतने ही नय, वाद अथवा दृष्टिकोण हो सकते हैं। वैसे तो जैन दर्शन में नयों की संख्या अनन्त मानी गई है, लेकिन मोटे तौर पर नयों के दो भेद किये जाते है जिन्हें १. निश्चयनय और २. व्यवहारनय कहते है। निश्चयनय और व्यवहारनय में सभी नयों का आन्तरभाव हो जाता है। भगवतीसूत्र में इन दोनों नयों का प्रतिपादन ही बडे ही रोचक रूप में किया गया है - गौतमस्वामी भगवान महावीर से पूछते है कि भगवान प्रवाही गुड में कितने रस, वर्ण, गन्ध और स्पर्श होते हैं? महावीर कहते है कि, गौतम मैं इस प्रश्न का उत्तर दो नयों से देता हूँ। व्यवहारनय से तो वह मधुर कहा जाता है, लेकिन निश्चयनय से उसमें पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श होते हैं। वस्तुतः निश्चय और व्यवहार दृष्टियों का विश्लेषण यह बताता है कि वस्तु तत्त्व न केवल उतना ही है, जितना इन्द्रियों के माध्यम से वह हमे प्रतीत होता है अथवा बुद्धि उसके स्वरूप को निश्चय कर पाती है, सत् स्वरूप को समझने के लिए इन्द्रियानुभूतिजन्यज्ञान और बुद्धिजन्यज्ञान उसके व्यावहारिक पक्ष को ही पकड पाते है, क्योंकि बुद्धि भी भाषा पर आधारित है और भाषा का शब्द भण्डार अति सीमित है। इसी प्रकार अपरोक्षानुभूति भी या आत्मिक अनुभूति भाषा और बुद्धि निरपेक्ष होती है। जिसे अर्न्तदृष्टि या प्रज्ञा कहा जाता है। निश्चयनय अपरोक्षानुभूति पर और व्यवहारनय इन्द्रियानुभूति और बौद्धिक ज्ञान पर निर्भर करती है। इस प्रकार व्यवहारनय भी इन्द्रियानुभूति और बौद्धिक विमर्श दोनों की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार जैन दर्शन में ज्ञान और उसकी अभिव्यक्ति के इन्द्रियानुभूतिजन्यज्ञान, बौद्धिकज्ञान और आत्मिकज्ञान ऐसे ज्ञान के तीन विभाग भी किये गये हैं। ठीक इसी प्रकार बौद्ध दर्शन के विज्ञानवाद में भी परिकल्पित, परतंत्र और परिनिष्पन्न ऐसे ज्ञान के तीन भेद किये गये हैं। बौद्ध दर्शन का शून्यवाद भी इसे मिथ्या संवृत्ति, तथ्य संवृत्ति और परमार्थ ऐसे तीन रूपों में व्यक्त करता है। आचार्य शंकर ने भी इन्हें ही प्रतिभासिक सत्य, व्यावहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्य ऐसे तीन विभागों में बाँटा है। इन्द्रियानुभूति और बौद्धिक ज्ञान व्यवहार पक्ष को प्रधानता देते हैं, अतः इनको मिला देने पर दो विधाएँ ही शेष रहती है - व्यवहार (व्यवहारनय) और परमार्थ (निश्चयनय)।

पाश्चात्य-परम्परा में ज्ञान की विधाएँ – निश्चयनय और व्यवहारनय

न केवल भारतीय दर्शनों में, वरन् पाश्चात्य दर्शनों में भी प्रमुख रूप से व्यवहार और परमार्थ के दृष्टिकोण स्वीकृत रहे हैं। डॉ. चन्द्रधर शर्मा के अनुसार पश्चिमी दर्शनों में भी व्यवहार और परमार्थ दृष्टिकोणों का यह अन्तर सदैव ही माना जाता रहा है। विश्व के सभी महान दार्शनिकों ने इसे किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। हेराक्लिटस के Kato और Ano पारमेनीडीज के मत (Opinion) और सत्य (Truth) सुकरात के मत में रूप और आकार (Word and Form) प्लेटो के दर्शन में संवेदन (Sense) और प्रत्यय (Idea) अरस्तू के पदार्थ (Matter) और चालक (Mover) स्पिनोजा के द्रव्य (Substance) और पर्याय (Modes) कांट के प्रपंच (Phenomenal) और तत्त्व, हेगल के विपर्यय और निरपेक्ष तथा ब्रैडले के आभास (Appearance) और सत् (Reality) किसी न किसी रूप में उसी व्यवहार और परमार्थ की धारणा को स्पष्ट करते हैं। भले ही इनमें नामों की भिन्नता हो, लेकिन उनके विचार इन्हीं दो दृष्टिकोणों की ओर संकेत करते हैं।

यहाँ यह जान लेना चाहिए कि जहाँ तक व्यवहार का प्रश्न है, उसके ज्ञान के साधन इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि हैं और ये तीनों सीमित और सापेक्ष हैं। इसलिए समस्त व्यवहारिक ज्ञान सापेक्ष होता है। जैन दार्शनिकों का कथन है कि एक भी कथन और उसका अर्थ ऐसा नहीं है जो नय शून्य हो, सारा ज्ञान दृष्टिकोणों पर आधारित है, यही दृष्टिकोण मूलतः निश्चयनय और व्यवहारनय कहे जाते हैं।

तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चयनय और व्यवहारनय का अर्थ

तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चयदृष्टि सत् के उस स्वरूप का प्रतिपादन करती है, जो सत् की त्रिकालाबाधित स्वभावदशा और स्वलक्षण है, जो पर्याय या परिवर्तनों में भी सत्ता के सार के रूप में बना रहता है। निश्चयदृष्टि अभेदगामी सत्ता के शुद्धस्वरूप या स्वभावदशा की सूचक है और उसके पर-निरपेक्ष स्वरूप की व्याख्या करती है। जबकि व्यवहारनय प्रतीति को आधार बनाता है अतः वह वस्तु के पर-सापेक्ष स्वरूप का विवेचन करता है। निश्चयनय वस्तु या आत्मा के शुद्ध स्वरूप या स्वभाव लक्षण का निरूपण करता है जो पर से निरपेक्ष होता है। जबकि व्यवहारनय पर-सापेक्ष प्रतीति रूप वस्तु स्वरूप को बताता है। आत्मा कर्म-निरपेक्ष शुद्ध, बुद्ध, नित्य, मुक्त है-यह निश्चय नय का कथन है, जबकि व्यवहारनय कहता हैं कि संसार दशा में आत्मा कर्ममल से लिप्त है, राग-द्वेष एवं काषायिक भावों से युक्त है। पानी

स्व-स्वरूपतः शुद्ध है, यह निश्चयनय है। पानी में कचरा है, मिट्टी है, वह गन्दा है, यह व्यवहारनय है।

तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में व्यवहारदृष्टि सत्ता के उस पक्ष का प्रतिपादन करती है, जिस रूप में वह प्रतीत होती है। व्यवहारदृष्टि भेदगामी है और सत् के आगन्तुक लक्षणों या विभावदशा की सूचक है। सत् के परिवर्तनशील पक्ष का प्रस्तुतिकरण व्यवहारनय का विषय है। व्यवहारनय देश और काल सापेक्ष है। व्यवहारदृष्टि के अनुसार आत्मा जन्म भी लेती है और मरती भी है, वह बन्धन में भी आती है और मुक्त भी होती है।

आचारदर्शन के क्षेत्र में व्यवहारनय और निश्चयनय का अन्तर

जैन परम्परा में व्यवहार और निश्चय नामक दो नयों का दृष्टियों का प्रतिपादन किया जाता है। वे तत्त्वज्ञान और आचारदर्शन-दोनों क्षेत्रों पर लागू होती हैं, फिर भी आचारदर्शन और तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चयदृष्टि और व्यवहारदृष्टि का प्रतिपादन भिन्न-भिन्न अर्थों में हुआ है। पं. सुखलालजी इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि जैन परम्परा में जो निश्चय और व्यवहार रूप से दो दृष्टियाँ मानी गई हैं, वे तत्त्वज्ञान और आचार-दोनों क्षेत्रों में लागू की गई हैं। सभी भारतीय दर्शनों की तरह जैन-दर्शन में भी तत्त्वज्ञान और आचार दोनों का समावेश है। निश्चयनय और व्यवहारनय का प्रयोग तत्त्वज्ञान और आचार दोनों में होता है, लेकिन सामान्यतः शास्त्राभ्यासी इस अन्तर को जान नहीं पाता। तात्त्विक निश्चयदृष्टि और आचारविषयक निश्चयदृष्टि दोनों एक नहीं है। यही बात उभयविषयक व्यवहारदृष्टि की भी है। तात्त्विक निश्चय दृष्टि शुद्ध निश्चय दृष्टि है, और आचारविषयक निश्चय दृष्टि अशुद्ध निश्चयनय है। इसी प्रकार तात्त्विक व्यवहार दृष्टि भी आचार सम्बन्धी व्यवहार दृष्टि से भिन्न है। यह अन्तर ध्यान में रखना आवश्यक है।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय

जैन दर्शन के अनुसार, सत्ता अपनेआप में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। उसका ध्रौव्य (स्थायी) पक्ष अपरिवर्तनशील है और उसका उत्पाद-व्यय का पक्ष परिवर्तनशील है। सत्ता के अपरिवर्तनशील पक्ष को द्रव्यार्थिक नय और परिवर्तनशील पक्ष को पर्यायार्थिक नय कहा जाता है। पाश्चात्य दर्शनों में सत्ता के उस अपरिवर्तनशील पक्ष को Being और परिवर्तनशील Becoming भी कहा गया है। सत्ता का वह पक्ष जो तीनों कालों में एक रूप रहता है, जिसे द्रव्य भी कहते हैं उसका बोध द्रव्यार्थिक नय से होता है, और सत्ता का वह पक्ष जो परिवर्तित होता रहता है उसे

पर्याय कहते हैं, उसका कथन पर्यायार्थिक नय ही है। ज्ञान मीमांसा की दृष्टि से यह परिवर्तनशील पक्ष भी दो रूपों में काम करता है, जिन्हें स्वभाव पर्याय और विभाग पर्याय के रूप में जाना जाता है। जिसमें स्वभाव पर्यायवस्था को प्राप्त करना ही उसका नैतिक आदर्श है। स्वभाव पर्याय तत्त्व के निजगुणों के कारण होती है, एवं अन्य तत्त्वों से निरपेक्ष होती है, इसके विपरीत विभाग पर्याय अन्य तत्त्व से सापेक्ष विभाव पर्याय होती है। आत्मा में ज्ञाता द्रष्टा भाव या ज्ञाता द्रष्टा की अवस्था स्वभाव पर्याय रूप होती है। क्रोधादिभाव विभाव पर्यायरूप होते हैं। परिवर्तनशील स्वभाव एवं विभाव पर्यायों को कथन व्यवहार नय होता है। जबकि सत्तारूप आत्मा के ज्ञाता द्रष्टा नायक गुण का कथन निश्चय नय होता है।

नैगम आदि सप्तनय

यह वर्गीकरण अपेक्षाकृत एक परवर्ती घटक है। तत्त्वार्थसूत्र के भाष्य मान्य पाठ में नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्दनय ऐसे पाँच भेद किये गये है। ये पाँचों भेद दिगम्बर परम्परा के षट्खण्डागम में भी उल्लेखित हैं। तत्त्वार्थसूत्र के भाष्य मान्य पाठ में उसके पश्चात् नैगमनय के दो भेद और शब्दनय के दो भेद भी किये गये हैं। परवर्तीकाल में शब्द नय के इन दो भेदों को मूल-पाठ में समाहित करके सर्वार्थ सिद्धि मान्य पाठ में नयों के नैगम आदि सप्त नयों की चर्चा भी की गई है। दिगम्बर परम्परा इस सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ को आधार मानकर इन सात नयों की ही चर्चा करता है। वर्तमान में तो श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में इन सप्तनयों की चर्चा ही मुख्य रूप से मिलती है। इन सात नयों नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र इन चार नयों को अर्थनय अर्थात् वस्तु स्वरूप का विवेचन करने वाले और शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इन तीन नयों को शब्दनय अर्थात् वाच्य के अर्थ का विश्लेषण करने वाले कहा गया है। अर्थनय का संबंध वाच्य विषय (वस्तु) से होता है। अतः ये नय अपने वाच्य विषय की चर्चा सामान्य और विशेष इन पक्षों के आधार पर करते हैं। जबकि शब्दनय का संबंध वाच्यार्थ (meaning) से होता है। आगे हम इन नैगम आदि सप्तनयों की संक्षेप में चर्चा करेंगे।

नैगमनय : इन सप्त नयों में सर्वप्रथम नैगमनय आता है। नैगमनय मात्र वक्ता के संकल्प को ग्रहण करता है। नैगमनय की दृष्टि से किसी कथन के अर्थ का निश्चय उस संकल्प अथवा साध्य के आधार पर किया जाता है जिसे वक्ता बताना चाहता है। नैगमनय सम्बन्धी प्रकथनों में वक्ता की दृष्टि सम्पादित की जानेवाली क्रिया के

अन्तिम साध्य की ओर होती है। वह कर्म के तात्कालिक पक्ष पर ध्यान न देकर कर्म के प्रयोजन की ओर ध्यान देती है। प्राचीन आचार्यों ने नैगमनय का उदाहरण देते हुए बताया है कि जब कोई व्यक्ति स्तम्भ के लिए किसी जंगल से लकडी लेने जाता है और उससे जब पुछा जाता है कि भाई तुम किसलिए जंगल जा रहे हो तो वह कहता है मैं स्तम्भ लेने जा रहा हूँ। वस्तुतः वह जंगल से स्तम्भ नहीं अपितु स्तम्भ बनाने की लकडी ही लाता है। लेकिन उसका संकल्प या प्रयोजन स्तम्भ बनाना ही है। अतः वह अपने प्रयोजन को सामने रखकर ही वैसा ही कथन करता है। हमारी व्यावहारिक भाषा में ऐसे अनेक कथन होते हैं जब हम अपने भावी संकल्प के आधार पर ही वर्तमान व्यवहार का प्रतिपादन करते हैं। डाक्टरी में पढने वाले विद्यार्थी को उसके भावी लक्ष्य की दृष्टि से डॉक्टर कहा जाता है। नैगमनय के कथनों का वाच्यार्थ भूत पर आधारित भविष्यकालीन साध्य या संकल्पों के आधार पर होता है। जैसे– प्रत्येक भाद्रकृष्णा अष्टमी को कृष्णजन्माष्टमी कहना। यहाँ वर्तमान में भूतकालीन घटना का उपचार किया गया है।

संग्रहनय : भाषा के क्षेत्र में अनेक बार हमारे कथन व्यष्टि को गौण कर समष्टि के आधार पर होते हैं। जैनाचार्यों के अनुसार जब विशेष या भेदों की उपेक्षा करके मात्र सामान्य लक्षणों या अभेद के आधार पर कोई कथन किया जाता है तो वह संग्रहनय का कथन माना जाता है। उदाहरण के लिए, जब कोई व्यक्ति यह कहे कि "भारतीय गरीब हैं।' तो उसका यह कथन व्यक्ति विशेष पर लागू न होकर सामान्यरूप से समग्र भारतीय जनसमाज का वाचक होता है। प्रज्ञापनासूत्र में यह प्रश्न उठाया गया है कि जाति प्रज्ञापनीय भाषा सत्य मानी जाये अथवा असत्य मानी जाये या व्यक्ति विशेष के आधार पर सत्य या असत्य मानी जाये। जाति प्रज्ञापनीय भाषा में समग्र जाति के सम्बन्ध में गुण, स्वभाव आदि का प्रतिपादन होता है, किन्तु ऐसे कथनों में अपवाद की सम्भावना से इन्कार भी नहीं किया जा सकता। सामान्य या जाति के सम्बन्ध में किये गये कथन कभी व्यक्ति के सम्बन्ध में सत्य भी होते हैं और कभी असत्य भी होते हैं। अतः यह प्रश्न भी उठ सकता है कि यदि उस कथन के अपवाद उपस्थित हैं तो उसे सत्य किस आधार पर कहा जाय। उदाहरण के लिए यदि कोई कहे कि स्त्रियाँ भीरू (डरपोक) होती हैं तो यह कथन सामान्यतया स्त्री जाति के सम्बन्ध में तो सत्य माना जा सकता है किन्तु किसी स्त्री विशेष के सम्बन्ध में यह सत्य ही हो, ऐसा आवश्यक नहीं हैं। अतः संग्रह नय के आधार पर किये गए कथन जैसे 'भारतीय

गरीब हैं' अथवा 'स्त्रियाँ भीरू होती है', समष्टि के सम्बन्ध में ही सत्य हो सकते हैं, उन्हें उस जाति के प्रत्येक सदस्य के बारे में सत्य नहीं कहा जा सकता है। यदि कोई इस सामान्य वाक्य से यह निष्कर्ष निकाले कि सभी भारतीय गरीब हैं और बिडला भारतीय है, इसलिए बिडला गरीब है, तो उसका यह निष्कर्ष सत्य नहीं होगा। सामान्य या समष्टिगत कथनों का अर्थ समुदाय रूप से ही सत्य होता है। यह समष्टि या जाति के पृथक्-पृथक् व्यक्तियों के सम्बन्ध में सत्य भी हो सकता है और असत्य भी हो सकता है। संग्रहनय हमें यही संकेत करता है कि समष्टिगत कथनों के तात्पर्य को समष्टि के सन्दर्भ में ही समझने का ही प्रयत्न करना चाहिए और उसके आधार पर उस समष्टि के प्रत्येक सदस्य के बारे में कोई निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए।

व्यवहारनय : व्यवहारनय सामान्य गर्भित विशेष पर बल देता है। व्यवहारनय को हम उपयोगितावादी दृष्टि भी कह सकते हैं। वैसे जैन आचार्यों ने इसे व्यक्ति प्रधान दृष्टिकोण भी कहा है। अर्थ प्रक्रिया के सम्बन्ध में यह नय हमें यह बताता है कि कुछ व्यक्तियों के सन्दर्भ में निकाले गए निष्कर्षों एवं कथनों को समष्टि के अर्थ में सत्य नहीं माना जाना चाहिए। साथ ही व्यवहार नय कथन के शब्दार्थ पर न जाकर वक्ता की भावना या लोकपरम्परा (अभिसमय) को प्रमुखता देता है। व्यवहार भाषा के अनेक उदाहरण हैं। जब हम कहते हैं कि 'घी के घडे में लड्डू रखे हैं', 'यहाँ घी के घडे' का अर्थ ठीक वैसा नहीं है जैसा कि मिट्टी के घडे का अर्थ है। यहाँ घी के घडे का तात्पर्य वह घडा है जिसमें पहले घी रखा जाता था।

ऋजुसूत्रनय : ऋजुसूत्रनय को मुख्यतः पर्यायार्थिक दृष्टिकोण का प्रतिपादक कहा जाता है और उसे बौद्ध दर्शन का समर्थक बताया जाता है। ऋजुसूत्रनय वर्तमान स्थितियों को दृष्टि में रख कर कोई प्रकथन करता है। उदाहरण के लिए 'भारतीय व्यापारी प्रामाणिक नहीं है', यह कथन केवल वर्तमान सन्दर्भ में ही सत्य हो सकता है। इस कथन के आधार पर हम भूतकालीन और भविष्यकालीन भारतीय व्यापारियों के चरित्र का निर्धारण नहीं कर सकते। ऋजुसूत्रनय हमें यह बताता है कि उसके आधार पर कथित कोई भी वाक्य अपने तात्कालिक संदर्भ में ही सत्य होता है, अन्य कालिक संदर्भों में नहीं। जो वाक्य जिस कालिक संदर्भ में कहा गया है, उसके वाक्यार्थ का निश्चय उसी कालिक संदर्भ में होना चाहिए।

शब्दनय : नय सिद्धान्त के उपर्युक्त चार नय मुख्यतः शब्द के वाच्य-विषय (अर्थ) से सम्बन्धित हैं, जबकि शेष तीन नयों का सम्बन्ध शब्द के वाच्यार्थ

(meaning) से है। शब्दनय यह बतात है कि, शब्दों का वाच्यार्थ उनकी क्रिया या विभक्ति के आधार पर विभिन्न हो सकता है। उदाहरण के लिए, "बनारस भारत का प्रसिद्ध नगर था' और "बनारस भारत का प्रसिद्ध नगर है' इन दोनों वाक्यों में "बनारस' शब्द का वाच्यार्थ भिन्न-भिन्न है। एख भूतकालीन बनारस की बात कहता है तो दूसरा वर्तमान कालीन। इसी प्रकार, "कृष्ण ने मारा' - इसमें कृष्ण का वाच्यार्थ कृष्ण नामक वह व्यक्ति है जिसने किसी को मारने की क्रिया सम्पन्न की है। जबकि "कृष्ण को मारा' - इसमें कृष्ण का वाच्यार्थ वह व्यक्ति है जो किसी के द्वारा मारा गया है। शब्दनय हमें यह बतात है कि शब्द का वाच्यार्थ कारक, लिंग, उपसर्ग, विभक्ति, क्रिया पद आदि के आधार पर बदल जाता है।

समभिरूढनय : भाषा की दृष्टि से समभिरूढनय यह स्पष्ट करता है कि अभिसमय या रूढि के आधार पर एक ही वस्तु के पर्यायवाची शब्द यथा - नृप, भूपति, भूपाल, राजा आदि अपने व्युत्पत्यार्थ की दृष्टि से भिन्न-भिन्न अर्थ के सूचक हैं। जो मनुष्य का पालन करता है, वह नृप कहा जाता है। जो भूमि का स्वामी होता है, वह भूपति होता है। यो शोभायमान् होता है वह राजा कहा जाता है। इस प्रकार पर्यायवाची शब्द अपना अलग-अलग वाच्यार्थ रखते हुए भी अभिसमय या रूढि के आधार पर एक ही वस्तु के वाचक मान लिए जाते हैं, किन्तु यह नय पर्यायवाची शब्दों यथा- इन्द्र, शक्र, पुरन्दर में व्युत्पत्ति की दृष्टि से अर्थ भेद मानता है।

एवंभूतनय : एवंभूतनय शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण मात्र उसके व्युत्पत्तिपरक अर्थ के आधार पर करता है। उदाहरण के लिए कोई राजा जिस समय शोभायमान हो रहा है उसी समय राजा कहा जा सकता है। एक अध्यापक उसी समय अध्यापक कहा जा सकता है जब वह अध्यापन का कार्य करता है। यद्यपि व्यवहार जगत् में इससे भिन्न प्रकार के ही शब्द प्रयोग किये जाते हैं। जो व्यक्ति किसी समय अध्यापन करता था अपने बाद के जीवन में वह चाहे कोई भी पेशा अपना ले मास्टर जी के ही नाम से जाना जाता है। इस नय के अनुसार जातिवाचक, व्यक्तिवाचक, गुणवाचक, संयोगी-द्रव्य-शब्द आदि सभी शब्द मूलतः क्रियावाचक हैं। शब्द का वाच्यार्थ क्रिया शक्ति का सूचक है। अतः शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण उसकी क्रिया के आधार पर करना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन आचार्यों का नय सिद्धान्त यह प्रयास करता है कि पर वाक्य प्रारूपों के आधार पर कथनों का श्रोता के द्वारा सम्यक् अर्थ ग्रहण

किया जाय। वह यह बताता है कि किसी शब्द अथवा वाक्य का अभिप्रेत अर्थ क्या होगा। यह बात उस कथन के प्रारूप पर निर्भर करती है जिसके आधार पर वह कथन किया गया है। नय सिद्धान्त यह भी बतलाता है कि कथन के वाच्यार्थ का निर्धारण भाषायी संरचना एवं वक्ता की अभिव्यक्ति शैली नय सिद्धान्त शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण एकान्तिक दृष्टि से न करके समग्र परिप्रेक्ष्य में करता है जिसमें वह कहा गया है।

अनेकान्त की आध्यात्मिक चिन्तन धारा

अनेकान्त कुमार जैन

कानजी स्वामी जैन अध्यात्म के सूक्ष्म विश्लेषक थे। उन्होंने जैन अध्यात्म पर गहराई से विचार किया और अनेकान्त सिद्धान्त के उस आध्यात्मिक पक्ष को उद्घाटित किया जो आज तक अछूता था। इनके इस विश्लेषण से जैन चिन्तन को कई नये आयाम प्राप्त हुए। 'सत्य' के सन्दर्भ में एक बात प्रसिद्ध है कि संपूर्ण सत्य को कोई भी दार्शनिक व्याख्यायित नहीं कर पाया किन्तु जब कोई दार्शनिक सत्य को कहने का साहस करता है तो ऐसा भी नहीं है कि वह असत्य ही प्रतिपादित करता हो। वास्ताविकता यह है कि हमारा कोई भी अनुभव भ्रांत नहीं होता; यदि सत्य का कोई अंश हमारे अनुभव में आ रहा है तो वह निश्चित ही अस्तित्व में है। दार्शनिक जब उसको कहता है तब यह निश्चित ही सत्य के महत्त्वपूर्ण पक्ष की व्याख्या कर रहा होता है। उसका यह पक्ष सत्य के अनुसंधान में बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है; इसलिए सत्य के सच्चे खोजी के पास उस पक्ष के विशेष या निषेध के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता है। कानजी स्वामी ने धार्मिक व दार्शनिक विचारक जगत को विमर्श के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण विषय दिये हैं जिसमें 'क्रमबद्धपर्याय' का सिद्धान्त प्रमुख है। निमित्त-उपादान, निश्चय नय, व्यवहारनय, द्रव्य और पर्याय के सन्दर्भ में भी उनका चिन्तन अनूठा है जो हमें भगवान महावीर की आध्यात्मिक दृष्टि को समझने में मदद देता है। स्याद्वाद, अनेकान्त और नय ये तीन सिद्धान्त जैनदर्शन की आत्मा हैं। स्पष्ट है कि इनमें बिना अध्यात्म जैसे गहरे पक्ष कर विचार करना कम से कम जैन दृष्टि में खतरे से खाली नहीं। कानजी स्वामी ने मिथ्या एकान्त से दूर रहकर इसी संदर्भ में अनेकान्त की सूक्ष्मता को प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। उनकी इन्हीं मौलिक विशेषताओं के कारण ये बीसवी सदी के समकालीन महत्त्वपूर्ण दार्शनिक के रूप में देश-विदेश में प्रतिष्ठित हुये हैं।

क्रमबद्ध पर्याय और एकान्त

क्रमबद्धपर्याय सिद्धान्त के अनुसार वस्तु में तीनों काल की अवस्थायें क्रमबद्ध ही होती है; कोई अवस्था आगे पीछे नहीं होती - ऐसा ही वस्तु स्वभाव है। डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल इसी को समझाते हुए लिखते हैं कि' 'जिस प्रकार नाटक में दृश्य क्रमशः आते हैं, एक साथ नहीं; उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य में पर्यायें क्रमशः ही होती

हैं, एक साथ नहीं। नाटक में यह भी तो निश्चित होता है कि किस दृश्य के बाद कौन सा दृश्य आयेगा; उसी प्रकार पर्यायों में भी यह निश्चित होता है कि किसके बाद कौन सा पर्याय आयेगा। जिस प्रकार जिसके बाद जो दृश्य आना निश्चित है, उसके बाद वही दृश्य आता है, अन्य नहीं; उसी प्रकार जिसके बाद जो पर्याय (कार्य) होना होता है, वही होता है, अन्य नहीं। इसी का नाम 'क्रमबद्धपर्याय' है।'

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में स्वामी कार्तिकेय कहते हैं कि[२], "जिस जीव के, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से, जो जन्म अथवा मरण जिनदेव ने नियत रूप से जाना है; उस जीव के, उस देश में, उसी काल में, उसी विधान से, वह अवश्य होता है। उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन टालने में समर्थ है? अर्थात् उसे कोई नहीं टाल सकता है।"

अत: संक्षेप में हम देखें तो सिद्धान्त यह स्थिर हुआ कि 'जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस काल में, जिस निमित्त व जिस पुरुषार्थ पूर्वक, जैसी होनी है; उस द्रव्य की, वह पर्याय, उसी काल में, उसी निमित्त व उसी पुरुषार्थ पूर्वक वैसी ही होती है; अन्यथा नहीं' – यह नियम है।[३]

इस चिन्तन की तुलना दार्शनिक जगत् में नियतिवाद से की जाती है। क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त पर प्रश्न चिह्न लगता है कि 'सब कुछ निश्चित है' इसी समान मान्यता के कारण यह सिद्धान्त भी क्या एकान्त नियतिवाद है? 'नियति' है ही नहीं ऐसा तो नहीं है क्योंकि जैन दर्शन के पंथ समवाय सिद्धान्त में नियति भी एक कारण है। सिद्धसेन दिवाकर ने पाँच समवाय में नियति को भी एक कारण माना है'।[४] किन्तु क्रमबद्धपर्याय में एकान्त रूप से मात्र नियति को कारण नहीं माना जाता; शेष चार समवाय के बिना तो 'क्रमबद्धपर्याय' भी घटित नहीं होती। इसलिए 'क्रमबद्धपर्याय' भी अनेकान्त परक चिन्तन है; एकान्त परक चिन्तन नहीं। कानजी स्वामी के शब्दों में 'नियत के साथ ही पुरुषार्थ, ज्ञान, श्रद्धादि धर्म भी विद्यमान् ही है। नियत स्वभाव के निर्णय के साथ विद्यमान सम्यक् पुरुषार्थ को – सम्यक् श्रद्धा को, सम्यक् ज्ञान को स्वभाव को आदि को स्वीकार न करें तभी एकान्त नियतवाद कहलाता है। अज्ञानी तो, नियत वस्तु स्वभाव के निर्णय में आ जाने वाला ज्ञान का पुरुषार्थ, सर्वज्ञ के निर्णय का पुरुषार्थ, स्वसन्मुख श्रद्धा-ज्ञानादि को स्वीकार करे बिना ही नियत की (जैसा होना होगा सो होगा-ऐसी) बात करते हैं, इसलिए उनको तो एकान्त नियत कहा जाता है; परन्तु ज्ञानी तो नियत वस्तु स्वभाव के निर्णय में साथ ही विद्यमान

ऐसे सम्यक् पुरुषार्थ को, स्वसन्मुख ज्ञान-श्रद्धा को, स्वभाव को, काल को, निमित्त को - सभी को स्वीकार करते हैं; इसलिए यह मिथ्या नियत नहीं है; परन्तु सम्यक् नियतवाद है, उसी में अनेकान्तवाद आ जाता है।[५]

वे आगे कहते हैं कि, 'क्रमबद्धपर्याय में पुरुषार्थ आदि का क्रम भी साथ ही है, इसलिए क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति भी आ ही जाती है। पुरुषार्थ कहीं क्रमबद्धपर्यायों से दूर नहीं रह जाता, इसलिए नियत के निर्णय में पुरुषार्थ उड नहीं जाता परन्तु साथ ही आ जाता है। इसलिए नियत स्वभाव की श्रद्धा यह अनेकान्तवाद है - ऐसा समझना। जो वस्तु की पर्यायों का नियत-क्रमबद्ध होना न माने, अथवा जो क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में विद्यमान् सम्यक पुरुषार्थ को न माने उसे अनेकान्तमय वस्तु स्वभाव की खबर नहीं है।[६]

प्रत्येक वस्तु को अनेकान्त 'अपने से पूर्ण' और 'पर से पृथक्' घोषित करता है। प्रत्येक वस्तु अनेकान्त रूप से निश्चित होती है। एक वस्तु में वस्तुपन को उत्पन्न करने वाली अस्ति-नास्ति आदि परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है। इसी प्रकार उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार और द्रव्य-पर्याय इन सबका अस्ति-नास्ति स्वरूप कानजी स्वामी ने अनेकान्त द्वारा समझाने का प्रयास किया है।

निमित्त सम्बन्धी अनेकान्त

निमित्त सम्बन्धी अनेकान्त के विषय में कानजी स्वामी कहते हैं कि, 'उपादान और निमित्त यह दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, दोनों पदार्थ अपने-अपने स्वरूप से अस्ति रूप है और दूसरे के स्वरूप से नास्ति रूप है; इस प्रकार निमित्त स्व-रूप से है और पर-रूप से नहीं है; निमित्त निमित्त रूप से है और वह उपादान रूप से नास्ति रूप है। इसलिए उपादान में निमित्त का अभाव है, इसमें उपादान में निमित्त कुछ नहीं कर सकता। निमित्त निमित्त का कार्य करता है, उपादान का कार्य नहीं करता - ऐसा अनेकान्त स्वरूप है। ऐसे अनेकान्त स्वरूप से निमित्त को जाने तभी निमित्त का पदार्थ ज्ञान होता है। "निमित्त निमित्त का कार्य भी करता है और निमित्त उपादान का कार्य भी करता है।" ऐसा कोई माने तो उसका अर्थ यह हुआ कि निमित्त अपने रूप से अस्ति रूप है और पर रूप से भी अस्तिरूप है; ऐसा होने से निमित्त पदार्थ में अस्ति नास्ति रूप परस्पर विरुद्ध दो धर्म सिद्ध नहीं हुए, इसलिए वह मान्यता एकान्त है। इसलिए 'निमित्त उपादान का कुछ करता है' ऐसा जिसने माना उसने अस्ति-

नास्ति रूप अनेकान्त द्वारा निमित्त के स्वरूप को नहीं जाना किन्तु अपनी मिथ्या कल्पना से एकान्त मान लिया है; उसने उपादान-निमित्त की भिन्नता, स्वतंत्रता नहीं मानी किन्तु उन दोनों की एकता मानी है।"[७]

कानजी स्वामी के साहित्य में जैन दर्शन के हार्द रूप वस्तु स्वातंत्र्य का स्वर स्पष्ट मुखरित है। निमित्त की स्वयं में पूर्ण स्वतंत्रता और उपादान की स्वयं में पूर्ण स्वतंत्रता का कथन निमित्त उपादान के संबंधों की सूक्ष्म समालोचना है। स्थूल दृष्टि सम्बन्धों को उपचार से ही स्वीकार कर सकते हैं; पारमार्थिक यथार्थ में नहीं।

उपादान सम्बन्धी अनेकान्त

उपादान सम्बन्धी अनेकान्त को प्रतिपादित करते हुए कानजी स्वामी कहते हैं कि, 'उपादान स्व-रूप से है पर-रूप से नहीं है; इस प्रकार उपादान का आस्ति नास्ति रूप अनेकान्त स्वभाव है। उपादान के कार्य में उपादान के कार्य की आस्ति है और उपादान कार्य में निमित्त के कार्य की नास्ति है, ऐसे अनेकान्त द्वारा प्रत्येक वस्तु का भिन्न-भिन्न स्वरूप ज्ञात होता है, तो उपादान में निमित्त क्या करे? कुछ भी नहीं कर सकता। जो ऐसा जानता है उसने उपादान को अनेकान्त स्वरूप से जाना जाता है, किन्तु 'उपादान में निमित्त कुछ भी करता है' - ऐसा जो माने उसने उपादान के अनेकान्त स्वरूप को नहीं जाना है किन्तु एकान्त स्वरूप से माना है; इसलिए उसकी मान्यता मिथ्या है।[८]

इस तथ्य को समझने के लिए बहुत ही धैर्य की आवश्यकता है। निमित्त उपादान में कुछ करता है अथवा नहीं? ये दोनों ही चिन्तन सापेक्ष है। स्थूल दार्शनिक दृष्टि से तो यही माना जाता है कि निमित्त की उपस्थिति अनिवार्य है। यह व्याख्या स्थूल भी है और सूक्ष्म भी, किन्तु आत्मोन्मुखी जीव सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन कर अपने पौरुष्य को पूर्ण स्वतंत्र देख रहा है। परम शुद्ध स्वरूप निमित्त का मोहताज नहीं है। द्रव्यदृष्टि की सच्चाई यह है कि निमित्त का निषेध नहीं वरन् उसका स्वरूप समझ कर उसकी गुलामी से इन्कार कर देना। निमित्त स्वत: अनुकूल परिणमन करेंगे किन्तु तभी जब दृष्टि स्वभाव सन्मुख होगी। निमित्त की सत्ता की और उसकी स्वतंत्रता को स्वीकारना किन्तु इस स्वीकारोक्ति में उपादान की स्वतंत्रता को पराधीन कर देना संभवत: न्याय नहीं।

द्रव्य में किस समय परिणमन नहीं है? जगत् में किस समय निमित्त नहीं है। स्पष्ट है कि जगत् के प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय परिणमन हो ही रहा है और निमित्त भी

सदैव होता ही है; तब फिर चिन्तन करें कि 'इस निमित्त के कारण यह हुआ' - यह बात कहाँ रहती है? और निमित्त न हो तो नहीं हो सकता'- यह प्रश्न भी कहाँ रहता है? यहाँ कार्य होने में और सामने निमित्त होने में कही समयभेद नहीं है। निमित्त का अस्तित्व कही भी नैमित्तिक कार्य की पराधीनता नहीं बतलाता। वह मात्र अपनी अपेक्षा नैमित्तिक कार्य को प्रकट करता है; जैसे पूछा जाए कि निमित्त किसका? तब उत्तर दिया जाएगा कि जो नैमित्तिक कार्य हुआ उसका। यह सब बातें दृष्टि की हैं। अनेकान्त हर दृष्टि का महत्त्व स्वीकारता है। ज्ञापक स्वभाव की दृष्टि होने से निमित्त के साथ का सम्बन्ध टूट जाता है। ज्ञानी की दृष्टि में भी कर्म के साथ का निमित्त - नैमित्तिक सम्बन्ध छूट गया है।

वस्तु स्वरूप में अन्याय नहीं है। जो चीज जैसी है उसको वैसा जानना और मानना यही सम्यकत्व है। इसमें पंथ, धर्म, सम्प्रदाय और पक्षव्यामोह को अवकाश ही कहाँ रहता है? यहाँ निमित्त और उपादान दोनों के प्रति आस्ति-नास्ति का अछूता पहलू है। आध्यात्मिक अनेकान्त यही है।

निश्चय और व्यवहार सम्बन्धी अनेकान्त

निश्चय नय और व्यवहार नय के माध्यम से वस्तु स्वरूप को समझने का प्रथम प्रयास भगवती में किया गया। वहाँ फणित प्रवाही (गीला) गुड को दो नयों से समझाया गया। व्यावहारिक नय कि अपेक्षा तो वह मधुर कहा जाता है किन्तु नैश्चयिक नय से वह पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस और आठ स्पर्शों से युक्त है।[१] आगे आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यवहार-निश्चय नय का तत्त्वज्ञान के अनेक विषयों में प्रयोग किया है। इतना ही नहीं, बल्कि तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त आधार के अनेक विषयों में भी इन नयों का उपयोग करके विशेष परिहार किया है। निश्चय और व्यवहार का आध्यात्मिक सूत्र बन गया - आत्माश्रितो निश्चयः पराश्रितो व्यवहारः। जब यह दृष्टि आत्मा समझने के लिए प्रयुक्त की गयी तब इनके स्वरूप का और विकास हुआ। निश्चय भी आवश्यक समझा गया और व्यवहार भी। निश्चय-व्यवहार के समन्वय को ही अनेकान्त की दृष्टि माना गया। केवल निश्चय को एकान्त और केवल व्यवहार को एकान्त मानने की धारणा स्वतः पुष्ट हो गयी। कानजी स्वामी ने निश्चय व्यवहार पर भी गहन विचार किया। आचार्य कुन्दकुन्द के उत्कृष्ट आध्यात्म के रहस्य को समझने का एक सार्थक प्रयास यह भी रहा। निश्चय और व्यवहार इन दोनों को स्वीकारते हुये इन दोनों की पूर्ण स्वतंत्रता पर विचार करना

आसान नहीं? कानजी स्वामी निश्चय और व्यवहार सम्बन्धी अनेकान्त को बतलाते हुए कहते हैं कि, 'उपादान निमित्त की भांति निश्चय और व्यवहार का भी अनेकान्त स्वरूप है। निश्चय है वह निश्चय रूप से अस्ति रूप है और व्यवहार रूप से नास्ति रूप है; व्यवहार है वह व्यवहार रूप से अस्ति रूप है और निश्चय रूप से नास्ति रूप है। इस प्रकार कथंचित् परस्पर विरुद्ध दो धर्म होने से वह अनेकान्त स्वरूप है। निश्चय और व्यवहार का एक दूसरे में अभाव है, परस्पर लक्षण भी विरुद्ध है - ऐसा अनेकान्त बतलाता है, तब फिर व्यवहार निश्चय में क्या करेगा?[१०]

वे आगे कहते हैं कि, 'व्यवहार व्यवहार का कार्य करता है और निश्चय का कार्य नहीं करता, अर्थात् व्यवहार बन्धन का कार्य करता है और अबन्धपने का कार्य नहीं करता - ऐसा व्यवहार का अनेकान्त स्वभाव है। इसके बदले 'व्यवहार व्यवहार का भी कार्य करता है और व्यवहार निश्चय का भी कार्य करता है' ऐसा जो मानता है उसने व्यवहार के अनेकान्त रूप को नहीं जाना है किन्तु व्यवहार का एकान्त रूप माना है और जिसने 'व्यवहार करते करते निश्चय का कारण होता है' - ऐसा माना। उसने निश्चय और व्यवहार को पृथक् नहीं जाना किन्तु दोनों को एक ही माना है, इसलिए वह भी एकान्त मान्यता हुई।[११]

संपूर्ण जिनागम अपेक्षाओं से भरा हुआ है। कहाँ कौन सी बात किस अपेक्षा से कही जा रही है यह समझना बहुत आवश्यक है। इसलिए आचार्यों ने अनेकों प्रकार के नय बताकर व्यवस्था को समझने की प्रथम सलाह दी है ताकि हम प्रत्येक दृष्टि को उसी दृष्टि से समझ सके जिस दृष्टि से वह हमें समझायी जा रही है। धवला में कहा गया है -

णत्थि नयहि वीहूणं सूत्त अत्थो व्व जिनवरदम्हि
तो णयवादे णिउणा मुणिणो तिद्धंतिया होंति[१२]

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के मत में नयवाद के बिना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं कहा गया है। इसलिए जो मुनि नयवाद में निपुण होते हैं, वे सच्चे सिद्धान्त के ज्ञाता समझने चाहिए।

द्रव्य और पर्याय सम्बन्धी अनेकान्त

द्रव्य नित्य है पर्याय अनित्य है अतः नित्यता भी है। जैन दर्शन को नित्यानित्यात्मकता की स्वीकृति ही अनेकान्त है। दार्शनिक दृष्टि से यही अनेकान्त है। किन्तु आध्यात्मिक मापदण्डों पर अनेकान्त किस प्रकार का है? उसी द्रव्य और

पर्याय सम्बन्धी अनेकान्त का प्रतिपादन करते हुये कानजी स्वामी कहते हैं कि, "द्रव्य द्रव्य रूप से है और संपूर्ण द्रव्य एक पर्याय रूप नहीं है। पर्याय पर्याय रूप है और एक पर्याय संपूर्ण द्रव्य रूप नहीं है। उसमें द्रव्य के आश्रय से धर्म होता है, पर्याय के आश्रय से धर्म नहीं होता। पर्यायबुद्धि से धर्म होता है ऐसा मानना वह एकान्त है। स्वद्रव्य के आश्रय से धर्म होता है उसके बदले अंश के (पर्याय को) आश्रय से जिसने धर्म माना उसकी मान्यता में पर्याय ने ही द्रव्य का काम लिया अर्थात् पर्याय ही द्रव्य हो गई; उसकी मान्यता में द्रव्य-पर्याय का अनेकान्त स्वरूप नहीं आया है। द्रव्य दृष्टि से (द्रव्य के आश्रय से) ही धर्म होता है और *पर्याय बुद्धि से धर्म नहीं होता* - ऐसा मानना अनेकान्त है।"[१३]

अध्यात्म के क्षेत्र में आत्मा ही प्रमुख है। पुद्‌गल गौण है। वहाँ द्रव्य दृष्टि का अर्थ मात्र आत्मदृष्टि है। जब कि जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये सभी द्रव्य ही हैं। अध्यात्म सारी व्याख्या अपने उद्देश्य को ध्यान में रखकर करता है और उसका उद्देश्य है - आत्मकल्याण।

दर्शन वस्तु की व्याख्या पर बल देता है। यहाँ यह अन्तर स्पष्ट है।

अनेकान्त की तीन भूमिकायें

अनेकान्त के संदर्भ में नये-नये अनसुने विचार सुनकर कहीं हमारे मन में इसी के प्रति संदेह उत्पन्न न हो जाये इसलिए समझने की दृष्टि से हम देखेंगे तो हम पाते हैं कि अनेकान्त आज तीन रूपों में हमारे सामने खडा है -

१. शास्त्रीय अनेकान्त (या दार्शनिक अनेकान्त)

२. व्यवहारिक अनेकान्त

३. आध्यात्मिक अनेकान्त

शास्त्रीय अनेकान्त की विशेषता यह है कि वह विविधता को स्वीकारता है और उसका तात्त्विकीकरण करता है। यह 'अनेकान्त' को एक विधि की तरह प्रस्तुत करता है जो हमें वस्तु के अनन्त धर्मात्मक स्वरूप को समझने में मदद देता है।

व्यवहारिक अनेकान्त हमें पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वैचारिक वैविध्यता के मध्य संतुलन बैठाने में मदद करता है। व्यवहारिक अनेकान्त कई अर्थों में मौलिक है और उसकी मौलिकता शास्त्रीय अनेकान्त से कुछ पृथक् स्वरूप लिए हुए है। यहाँ मनभेदों की अस्वीकृति नही, वरन् मतभेदों की अस्वीकृति है।

आध्यात्मिक अनेकान्त इन दोनों से आगे बढकर कोई नयी ही चेतना का संचार करता है। यहाँ मुख्यता-गौणता का दर्शन उपादेयता और हेयता के पार्श्व में होता है। यहाँ आत्मानुभव की प्रबल विधेयात्मकता शेष समस्त बन्धन स्वरूप प्रतीत होने वाले तत्त्वों के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण की उत्पत्ति का सहज कारण बन जाती है। शास्त्रीयता का सहारा लेकर वस्तु स्वरूप को तो यहाँ भी समझ जाता है किन्तु उसमें से आत्माराधना में जो साधकतत्त्व हैं उनको उपादेय तथा शेष अन्य को हेय बतलाया जाता है। इस क्षेत्र में 'सार सार को गहि लहे थोथा देइ् उडाय' वाली सूक्ति का सहारा लिया जाता है। इस क्षेत्र में जिसे हेय करना है; अतिरेक में उसके प्रति निषेध की भाषा मुखरित होने लगती है। जिस प्रकार अपने पुत्र की किसी हरकत से परेशान होकर नाराज पिता यह कहता है कि 'जा तेरा मेरा कोई संबंध नहीं। न तू मेरा पुत्र है और न मै तेरा बाप। मेरें लिए तू मर गया समझो।' यहाँ वस्तुस्थिति यह है कि पिता के कहने या मानने से उनका पितृत्व और पुत्र का पुत्रत्व धर्म समाप्त नहीं हो जाता और न ही पुत्र मर जाता है। 'मेरे लिए तो मर गया समझो' का अर्थ मात्र दृष्टि परिवर्तन से है वस्तु स्थिति परिवर्तन से नहीं। उसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि में 'निमित्त मेरे लिए कुछ नहीं, निश्चय व्यवहार झूठा', 'जगत् मिथ्या' जैसे वाक्य मात्र दृष्टि परिवर्तन की अपेक्षा से कहे जाते हैं; वस्तुस्थिति के परिवर्तन की अपेक्षा से नहीं। जहाँ तक वस्तुस्थिति की बात है आध्यात्मिक दृष्टि भी एक किस्म की वस्तुस्थिति है और यह तथ्य स्पष्ट न होने के कारण अध्यात्म के प्रति कभी-कभी एकान्तवाद का आरोप भी लगाया जाता है। किन्तु उसके भाषात्मक पक्ष से परे जाकर उसके हार्द को समझने का प्रयत्न किया जाय तो हम वहाँ भी अनेकान्त ही पायेंगे जो वस्तुत: मोक्षमार्ग की प्रथम व अनिवार्य शर्त है। द्वैत से अद्वैत की ओर जाना, भेद से अभेद की ओर जाना ही लक्ष्य है। इसलिए हम अध्यात्म को सम्यक् अनेकान्त से सम्यक् एकान्त तक पहुँचाने वाला एक सशक्त माध्यम मान सकते हैं।

अनेकान्त का प्रयोजन व लाभ

अध्यात्म शैली में वस्तु स्वरूप बतलाने वाले श्रीमद्राजचन्द्र अनेकान्त का प्रयोजन बतलाते हुये कहते हैं कि, "बाह्य व्यवहार के अनेक विधि-निषेध के कर्तृत्व की महिमा में कोई कल्याण नहीं है। यह कहीं एकान्तिक दृष्टि से लिखा है अथवा अन्य कोई हेतु है ऐसा विचार छोडकर उन वचनों से जो भी अन्तर्मुखवृत्ति होने की प्रेरणा मिले उसे करने का विचार रखना सो सुविचार दृष्टि है।.......बाह्य

क्रिया के अन्तर्मुख दृष्टिहीन विधि-निषेध में कुछ भी वास्तविक कल्याण नहीं है।......अनेकान्तिक मार्ग भी सम्यक् एकान्त निजपद की प्राप्ति कराने के अतिरिक्त अन्य किसी भी हेतु से उपकारी नही है; यह जानकर ही लिखा है। यह मात्र अनुकम्पाबुद्धि से, निराग्रह से, निष्कपट भाव से, निर्दम्भता से और हित दृष्टि से लिखा है; यदि इस प्रकार विचार करोगे तो यह पदार्थ दृष्टिगोचर होगा।''[१४]

यदि अनेकान्त से हमें कुछ लाभ उठाना है तो हमें उसका अध्यात्म समझना पडेगा तथा उसको महत्त्व देना पडेगा अन्यथा अनेकान्त आत्मकल्याण का पथ बतलाने की अपेक्षा बुद्धिविलास मात्र का साधन बनकर रह जायेगा। कानजी स्वामी निडरभाव से इस बात की स्पष्ट घोषणा कर ही रहे हैं, 'जो जीव ऐसा अनेकान्त वस्तु स्वरूप (जैसा कि पहले कह आये हैं) समझे वह जीव निमित्त, व्यवहार या पर्याय का आश्रय छोडकर अपने द्रव-स्वभाव की ओर ढले बिना नहीं रहता; अर्थात् स्वभाव के आश्रय से उसे सम्यक् दर्शन ज्ञानादिक धर्म होते हैं। इस प्रकार अनेकान्त की पहचान से धर्म का प्रारम्भ होता है। जो जीव ऐसा अनेकान्त स्वरूप न जाने वह कभी पर का आश्रय छोडकर अपने स्वभाव की ओर नहीं ढलेगा और न उसे धर्म होगा।''[१५]

आज अनेकान्त विषय को लेकर अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार हो रहे हैं। उन सम्मेलनों में देखा गया कि अनेकान्त के व्यावहारिक पक्ष और यत्किंचित् शास्त्रीय पक्ष पर तो पत्र पढे जाते हैं और चर्चायें होती हैं किन्तु इसका आध्यात्मिक पक्ष अतिमहत्वपूर्ण और मूल होते हुये भी उपेक्षित रहता है। इसका कारण जानकारी का अभाव भी हो सकता है। मैंने अपने इस लघु प्रयास में संक्षिप्त रूप से इस दृष्टि को आगे लाने की कोशिश की है। आशा है विचारक जगत् इस महत्त्वपूर्ण पक्ष पर विमर्श करेगा।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. भारिल्ल, हुकुमचन्द, क्रमबद्धपर्याय, टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर १९८६, पृ. १८

२. जं जस्स जम्मि देसे जेण विहारेण जम्मि कालम्मि ।

३. णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ।।
तं तरस ताम्मि देसे तेण विहारेण ताम्मि कालम्मि ।
कौ सक्कादि वारेदुं इंदो वा तह जिणिंदो वा ।।

कातिकेयानुप्रेक्षा - स्वामिकार्तिकेय, गाथा - ३२१, ३२२

३. क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ १९

४. सन्मति सूत्र, ३/५३

५. कानजी स्वामी, 'ज्ञानस्वभाव और ज्ञेय स्वभाव' - हिन्दी अनुवाद : मगनलाल जैन, कुन्दकुन्द कहान दि. जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपूर १९९८, पृ.२२७.

६. वही, पृ. २२८

७. वही, पृ. २२९-३०

८. वही पृ. २३०

९. गोयमा! एत्थ दो नया भवंति, तं जहा- नेच्छइ्यनए व वाहहारियनए य। वावहारियनयस्स गोड्डे फाणियगुले, नेच्छड्यनस्स पंचवण्णे दुगंधे पंच रसे अट्ठफासे पन्नते। भगवती (तृतीय खण्ड), अठारवां शतक, उद्देशक - ६, आगम प्रकाशन समिति, १९९१, पृ. ७०४.

कर्म, बंधन, मोक्ष : जैन और अद्वैत दृष्टिकोण

रञ्जन कुमार

बंधन और मोक्ष वह दार्शनिक प्रश्न है जिसपर निरंतर विचार किया जाता रहा है। विचार श्रृंखला अत्यंत गंभीर एवं महत्त्वपूर्ण है। इस संबंध में जैन दार्शनिकों एवं अद्वैत वेदांत विशेषकर शांकरमत की क्या प्रतिक्रिया हें इसी पर चिन्तन करने का प्रयास प्रस्तुत पत्र में किया गया है।

बंधन– मोक्ष

दुःख अथवा पीडा बंधन है जबकि इससे मुक्ति मोक्ष है। इसका कारण क्या है? यही प्रश्न दार्शनिकों के लिए एक महत्त्वपूर्ण पडाव है। अद्वैत-वेदान्त के अनुसार बंधन का मूल कारण अविद्या या अज्ञान है।[१] जबकि जैनदार्शनिक अविद्या के साथ-साथ अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग को बंधन का प्रमुख कारण मानते हैं।[२] यह अविद्या जीव अथवा आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं है, वरन् स्वयं जीव की मिथ्या कल्पना का परिणाम है। वस्तुतः जीव के बंधन का कारण स्वयं उसके मन में ही है और न ही बाहर किसी अन्य वस्तु में, बल्कि इनके निमित्त से मन में राग-द्वेष रूपी जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन भावों के कारण ही बन्धन होता है।

वस्तुतः बंधन का मूल कारण राग-द्वेष को माना गया है जो मोह के कारण उत्पन्न होता है।[३] यही मोह जीव को बंधन में डाल देता है। यह मोह जीव का स्वाभाविक गुण है। इस संबंध में आचार्य शंकर का मत उल्लेखनीय है- यदि हम यह मानकर चलें कि अविद्या जीव का स्वाभाविक गुण है तो ऐसी परिस्थिति में अज्ञान का कभी निवारण ही नहीं हो सकता है और जीव निरंतर बंधन में पडा रहेगा।[४] इसलिए यह बंधन भी केवल व्यवहारिक दृष्टिकोण से सत्य है। पारमार्थिक सत्य तो यह है कि जीव न कभी बंधन में पडता है और न कभी मोक्ष को प्राप्त करता है। शंकर कहते हैं कि बंधन और मोक्ष दोनों केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य हैं।[५]

अद्वैत वेदान्त में बंधन के कारकों का निवारण कर मुक्ति प्राप्त करने में ज्ञान को महत्त्वपूर्ण माना गया है। शंकराचार्य दृढतापूर्वक इस सिद्धांत को प्रतिपादित करते हैं कि ज्ञान (आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान) स्वयं मोक्ष है।[६] मोक्ष के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि "आत्मा की अपने स्वरूप में स्थिति ही मोक्ष है।"[७] इसकी दूसरी परिभाषा यह दी गई है कि "अविद्या की निवृत्ति ही मोक्ष है", मोक्ष और अविद्यानिवृत्ति एक ही है।[८] शंकराचार्य का कहना है कि मोक्ष की प्राप्ति कर्म से या

ज्ञानकर्म समुच्चय से नहीं हो सकती, क्योंकि कर्म से निष्पन्न होने वाला कोई पदार्थ नित्य नहीं होता जबकि मोक्षावस्था नित्य है।[९] मोक्ष ज्ञान का उत्पाद्य नहीं है क्योंकि ज्ञान का उत्पाद्य होने पर वह अनित्य हो जाएगा, अतः ज्ञान और मोक्ष एक ही है।[१०]

जैन दार्शनिक मोक्ष को आत्मा की वह विशुद्धावस्था मानते हैं जिसमें किसी भी विजातीय तत्त्व के साथ संयोग नहीं रहता और सम्पूर्ण विकारों का अभाव होकर आत्मा स्व-स्वरूप में स्थिर हो जाती है। इसमें जीवन का विसर्जन न होकर मानव-बुद्धि में उत्पन्न मिथ्यात्व का नाश होता है। इस मिथ्यात्व के स्थान पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र का विकास होता है। मोक्ष वस्तुतः कोई ऐसी दुर्लभ वस्तु नहीं है जिसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। वास्तव में कर्मबंधन के मूल कारणों पर विजय प्राप्त कर लेने पर यह स्वतः प्राप्त हो जाता है। दशवैकालिक में कहा गया है, आरक्षित आत्मा आवेगों में फँसकर कर्मों का बंध करती है और सुरक्षित आत्मा विकारजन्य या कर्मजन्य समस्त बंधनों को तोडकर मुक्त हो जाती है।[११]

वस्तुतः जैन एवं अद्वैतवादी दोनों इस बात पर सहमत हैं कि मोक्ष या मुक्ति जीवन का अभिन्न अंग है। बंधन एवं मोक्ष जीवन के दो पक्ष हैं जहाँ अन्यान्य कारणवश जीव/आत्मा अपनी प्रकृतावस्था को विस्मृत कर बैठती है वही मोक्षावस्था में वह समस्त विकारों का दमन कर एक शुद्ध विशुद्ध एवं शाश्वत स्थिति प्राप्त करती है।

कर्म, बंधन और मोक्ष

बंधन और मोक्ष कर्म के अभाव में निष्प्रयोज्य हैं। क्योंकि कर्म ही जगत् वैचित्र्य एवं दार्शनिक ऊहापोह का केंद्रीय तत्त्व है। यह कर्म ही है जो जीव को बंधनमुक्त करता है और बंधनमुक्त जीव इसी कर्मबंधन से मुक्त होकर मोक्षावस्था की कामना करते हैं। वस्तुतः कर्म क्या है और यह किस प्रकार बंधन एवं मोक्ष से संबद्ध है आदि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनपर दार्शनिकों ने पर्याप्त चिन्तन किया है, जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं।

कर्म का साधारण अर्थ 'क्रिया' होता है। वेदों से लेकर ब्राह्मण काल तक वैदिक परम्परा में कर्म का क्रियापरक अर्थ ही दृष्टिगत है, परंतु जैन दर्शन में कर्म शब्द विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वैसे जैन दर्शन में क्रिया को ही कर्म कहा गया है और क्रिया में जीव की शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक तीनों ही प्रकार की क्रियाओं को समाविष्ट किया गया है। वस्तुतः शरीर, मन एवं वाणी के निमित्त से जो कुछ भी किया जाता है उसे कर्म कहा गया है। शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक व्यापार को

जैन दर्शन में 'योग'[१२] कहा गया है और इस व्याख्या का जो हेतु है वही कर्म है। आचार्य देवेन्द्रसुरि कर्म की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि "जीव की क्रिया का जो हेतु है वही कर्म कहलाता है"।[१३]

वस्तुतः जैन परम्परा में क्रिया और क्रिया के हेतु या कारण दोनों को कर्म कहा गया है। इसके साथ-साथ यहाँ कर्म को पौद्गलिक माना गया है और ये वे पुद्गल परमाणु हैं जो किन्हीं क्रियाओं के परिणाम स्वरूप आत्मा की ओर आकर्षित होकर (आस्रव) कालक्रम में अपना फल प्रदान करते हैं और आत्मा में विशिष्ट मनोभाव उत्पन्न करते हैं।[१४] जैन मतानुसार आत्मा का बंधन स्वतः होता है। अतः इसका कोई निमित्त कारण अवश्य होना चाहिए। बंधन के हेतु कषाय, राग, द्वेष, मोह आदि मनोभाव भी आत्मा में स्वतः उत्पन्न नहीं होते अपितु कर्म-वर्गणा के विपाक के फलस्वरूप चेतना के सम्पर्क में आने पर ये तज्जनित मनोभाव बनते हैं। ये ही बंधन के मूल कारण हैं। इनसे विरत होना ही मोक्ष है।

आचार्य शंकर का इस संबंध में अपना विचार है। उनका मत है कि जीव कर्म से बंधन में है और ज्ञान से मुक्त हो जाता है। इसलिए पारदर्शी मुनिजन कर्म नहीं करते। यहाँ ज्ञान और कर्म को विद्या, अविद्या रूप माना गया है। कर्म अविद्याजन्य है। केवल अज्ञानी द्वारा कर्म किया जाता है। ज्ञानी के लिए कर्म का विधान नहीं है।[१५] केवल त्रयी-धर्म (वैदिक-कर्म) में लगे रहने वाले सकाम पुरुष आवागमन को प्राप्त होते हैं। अतः अज्ञान का पूर्णतया क्षय होने पर ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है। यही मोक्ष परम कल्याणकारी और सत् -चित् -आनंद स्वरूप है। एक बार यह प्राप्त हो जाता है तो पुनः इसका नाश नहीं होता।

व्रत, दान, तप, यज्ञ, सत्य, तीर्थ, आश्रम और कर्मयोग ये सभी स्वर्ग के हेतु हैं। परंतु अशुभ, अकल्याणकर और अनित्य हैं। ज्ञान नित्य, शांतिकारक और परमार्थरूप है। मनुष्य यज्ञों के द्वारा देवत्व प्राप्त करता है, तपस्या से ब्रह्मलोक को पाता है, दान से तरह-तरह के भोग को प्राप्त करता है और ज्ञान से मोक्ष पद पाता है। पुरुष धर्म की रस्सी से ऊपर की ओर जाता है और पापरज्जु से अधोगति को प्राप्त होता है। परंतु जो इन दोनों को ज्ञानरूप खड्ग से काट देता है, वह देहाभिमान से रहित होकर शान्ति प्राप्त करता है।[१६]

जैनमत और आचार्य शंकर के मत में यहाँ जो अंतर परिलक्षित है वह वस्तुतः निमित्त और उपादान को लेकर है। क्योंकि बंधन की दृष्टि से आत्मा की अशुद्ध

मनोवृत्तियाँ (कषाय और मोह) और कर्म-वर्गणा के पुद्‌गलों में पारस्परिक संबंध है। वस्तुतः बंधन की दृष्टि से जड कर्मपरमाणु और आत्मा में निमित्त और उपादान का संबंध है। कर्म-पुद्‌गल बंधन के निमित्त कारण हैं और आत्मा उपादान कारण। एकांत रूप से न तो आत्मा बंधन का कारण है और न ही कर्मपुद्‌गल ही, अपितु दोनों के पारस्परिक संयोग से आत्मा बंधन में आता है। इस तथ्य का भान एकमात्र ज्ञान से ही संभव है।

कर्म, ज्ञान और मोक्ष

मोक्ष आत्मज्ञान है। आत्मज्ञान अनात्मज्ञान (अविद्या) की निवृत्ति है। अतः मोक्ष ज्ञानसाध्य है। परंतु यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि कर्म की उपयोगिता क्या है? क्या कर्म का कोई महत्त्व नहीं है? यदि ज्ञान ही मोक्ष का साधन है तो सभी प्रकार के कर्म लौकिक, अध्यात्मिक (वैदिक) कर्म व्यर्थ हैं। इस संबंध में शंकर और जैन दोनों ही कर्म और ज्ञान की पारस्परिकता को उदाहरण के द्वारा समझाते हुए इनके वैशिष्ट्य का विवेचन करते हैं। आचार्य शंकर इस हेतु पारमार्थिक एवं व्यवहारिक दोनों ही दृष्टियों का सहारा लेते हैं जबकि जैन मतावलंबी पारम्परिक रूप से इसका समाधान प्रस्तुत करते हैं। मोक्ष के लिए ज्ञान और कर्म दोनों को आवश्यक मानते हैं।

शंकर ज्ञान और कर्म में अन्धकार और प्रकाश के समान नितांत भेद मानते हैं। प्रकाश के सामने अंधकार का कोई महत्त्व नहीं है। ज्ञान होने पर कर्म-सम्पादन व्यर्थ है, आत्मज्ञानी के लिए कर्म निष्प्रयोजन है। यह पारमार्थिक दृष्टिकोण है। व्यवहारिक दृष्टि में कर्म का प्रयोजन है। कर्म से ही चित्त शुद्धि होती है और विशुद्धचित्त में ही शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मज्ञान संभव है। अतः कर्म विशुद्धि का मार्ग है। जैन चिन्तकों का भी इस संबंध में समान मत है। उनका यह मानना है कि चारित्रशुद्धि के बिना मुक्ति कभी भी संभव नहीं है। क्योंकि चारित्र धर्म है। यह चारित्रधर्म तत्त्वज्ञान से पुष्ट होता है। आगम में इसे शील कहा गया है। शील के बिना ज्ञान नहीं और ज्ञान के बिना शील की प्रवृत्ति नहीं होता। इन्द्रियों के विषयों से विरत् रहने वाले व्यक्ति ही शीलवान् होते हैं और वे ही निर्वाण प्राप्त करते हैं।[१७]

केवल काम्य कर्मों को छोडकर अन्य सभी वैदिक कर्म ज्ञान में सहायक होते हैं। कर्म से ही शरीर की शुद्धि होती है। शरीरशुद्धि से ही चित्त-शुद्धि होती है। चित्त-शुद्धि से विशुद्धज्ञान (आत्मज्ञान) होता है। अतः शरीर को पाप रहित और चित्त को

निर्मल करने के लिए कर्म आवश्यक है। परंतु ज्ञान के पूर्व ही कर्म का महत्त्व है। आत्मज्ञान तो अंतिम सोपान है। आत्मज्ञानी के लिए कर्म का कोई प्रयोजन नहीं। ज्ञान की अग्नि तो सभी कर्मों को भस्म कर डालती है। अतः कर्म का प्रयोजन तो व्यवहारिक है, ज्ञान के उदय होने के पूर्व हैं। ज्ञानोदय के पश्चात् तो कर्म का अंधकार सर्वदा और सर्वथा समाप्त हो जाता है। परंतु ज्ञानोदय के लिए साधक को साधन चतुष्टय अथवा त्रिरत्न की साधना करनी पडती है।

इनकी सहायता से साधक मोक्ष का अधिकारी बनता है। साधनचतुष्टय आत्मा और ब्रह्म के द्वैतभाव को नष्ट करता है। साधक ब्रह्मस्वरूप बन जाता है। जबकि त्रिरत्न स्वयं मोक्षस्वरूप है और यह आत्मा के अनंत चतुष्टय का प्रकाशक। साधन चतुष्टय नित्यानित्य वस्तु विवेक, इहमुत्रार्थभोग विराग, शमदमादिसाधन सम्पत और मुमुक्षत्व का संयुक्त रूप है। त्रिरत्न : सम्यग्‌दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्‌चारित्र के रूप में विख्यात है।

सदेह और विदेहमुक्ति

सदेहमुक्ति और विदेहमुक्ति के संबंध में जैन एवं अद्वैतवादी द्वारा प्रस्तुत विचार अवलोकनीय है। वेदान्ती विदेहमुक्ति को ही प्रमुखता प्रदान करते हैं। जैन भी विदेहमुक्ति को ही सर्वोत्तम मानते हैं। परंतु इस मतसाम्य में भी पर्याप्त अंतर है। दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि मोक्ष प्राप्त व्यक्ति का शरीर प्रारब्ध कर्मानुसार विद्यमान् रहता है। परंतु वह व्यक्ति संसार के प्रपंचों से दूर रहता है। मोह उसे सताता नहीं, शोक उसे अभिभूत नहीं करता, सांसारिक विषय के लिए उसे तृष्णा नहीं होती। यह जीवितावस्था में ही मुक्ति है। वेदान्ती इसे जीवन्मुक्त कहते हैं जबकि जैन इसे तीर्थंकर प्रारब्ध कर्मों के समाप्त होते ही उसका शरीर छूट जाता है। यह विदेहमुक्ति की अवस्था है। जैन-परम्परा में इसे सिद्धावस्था कहा गया है।

आचार्य शंकर जीवन्मुक्ति (सदेहमुक्ति) का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि ज्ञानी जीवितावस्था में ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है। सर्प के उतारे हुए केंचुल के समान जीवन्मुक्त का शरीर पडा रहता है। जीवन्मुक्त शरीर में स्थित वह आत्मा अशरीर है, अमृत, प्राण और ब्रह्म है। स्वयं प्रकाश है और वस्तुतः वह नेत्रविहीन भी सनेत्र के समान है, श्रोत्रहीन भी सश्रोत्र के समान है, वाणीरहित भी वाणीसहित सा, मनरहित भी मनसहित सा है।[१८] जीवन्मुक्त का भोग शरीरपात से पूर्व तक निर्लिप्त पुरुष की फलरहित क्रिया मात्र है।

शंकर पूर्ण मोक्ष में शरीर और इन्द्रियों का अभाव मानते हैं।[१९] जीवन्मुक्त देहपात के बाद ब्रह्मैक्यरूप जिस मोक्ष की अनुभूति करता है वह मोक्ष पारमार्थिक, कूटस्थ नित्य, आकाशतुल्य सर्वव्यापी है। यह सभी विकारों से रहित, नित्य तृप्त, निरवयव और स्वयं प्रकाश स्वभाव वाला है। इसमें धर्माधर्मादि नहीं रहते और न ही इसका कालत्रय से कोई सम्बन्ध हैं। यही अशरीरी नामक मोक्ष है अर्थात् विदेहमुक्ति है।[२०] सदानंद इसी को आनन्दैकरस से पूर्ण समस्त भेदों से रहित अखंड ब्रह्म में अवस्थिति वाला परम एवं पूर्णकैवल्य मानते हैं।[२१] जैनपरम्परा में यह सिद्ध जीव है जो समस्त घाती-अघाती कर्मों से मुक्त होकर सिद्धशिला पर प्रतिष्ठापित होता है।[२२] दोनों ही मत मुक्त जीव के पुनर्जन्म का निषेध करते हैं क्योंकि वह फलों की आशा के बिना कर्म करता है।

बंधन मोक्ष : जैन और शंकरमत

तुलनात्मक विवेचन करने पर हमारे समक्ष बंधन और मोक्ष के संबंध में जैन और शंकर के विचारों में मूलभूत अंतर मिलता है जो दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। आचार्य शंकर ने कर्म बंधन के कारण के रूप में अविद्या को प्रमुख कारक माना है। इसके विपरीत जैन दर्शन में अविद्या के साथ-साथ अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग को कर्मबंधन का महत्त्वपूर्ण कारण माना जाता है। अद्वैतवादी बंधन और मोक्ष को व्यवहारिक दृष्टि से सत्य तो स्वीकार करते हैं परंतु पारमार्थिक दृष्टि से वे इसे मिथ्या, भ्रमपूर्ण और अवास्तविक सिद्ध करते हैं। दूसरी तरफ जैनों ने आत्मा के बंधन और मोक्ष को मिथ्या या अवास्तविक न मानकर सत्य माना है। इसी के आधार पर ये सांसारिक और मुक्त जीवों की व्याख्या करते हैं।

आचार्य शंकर मोक्ष प्राप्ति के लिए एकमात्र ज्ञान को ही आवश्यक मानते हैं। दूसरी तरफ मोक्ष के साधन के रूप में कर्म और ज्ञान-कर्म समुच्चय के दावों की भी समीक्षा करते हैं कि कर्म से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है क्योंकि कर्म का परिणाम किसी वस्तु को आरम्भ करना है, लेकिन मोक्ष नित्य है और और किसी भी नित्य वस्तु का आरम्भ नहीं किया जा सकता। लोक में जिस वस्तु का भी आरंभ होता है वह अनित्य हुआ करती है। अतः मोक्ष कर्मारब्ध नहीं है। ज्ञान में भी सभी प्रकार के ज्ञान को नहीं, बल्कि तत्त्वज्ञान को ही मोक्ष-प्राप्ति हेतु महत्त्वपूर्ण बताया गया है।[२४] जबकि जैन परम्परा में ज्ञान के साथ-साथ सम्यग्दर्शन एवं सम्यग् चारित्र को भी मोक्ष प्राप्ति का अनिवार्य साधन माना गया है।[२५]

साथ ही साथ दोनों यह मानते हैं कि आत्मा की स्वाभाविक दशा ही मोक्ष है। बंधन स्वाभाविक दशा न होकर आत्मा की वैभाविक दशा है। यद्यपि शंकर के अनुसार विभाव की यह अवस्था सत्य नहीं, मात्र प्रतीति है। जबकि इसके विपरीत जैन दार्शनिक आत्मा की इस विभाव दशा को प्रतीति न मानकर सत्य स्वीकार करते हैं। बंधन का कारण शंकर ने अविद्या या मिथ्यात्व को माना है जबकि जैन दर्शन मोह को बंधन का प्रमुख कारण मानता है।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. आरमानि एवाविद्यानिवृत्तिः। शांकर भाष्य, बृह. उप., १.४.१०
२. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाबन्धहेतवः। तत्त्वार्थसूत्र, ८.१
३. रागो य दोसो नि य कम्मणीयं कम्मं च मोहाप्पभवं वयन्ति। उत्तराध्ययन, ३२.७
४. शंकरभाष्य, ६.३.४२
५. लाड, अशोक कुमार, भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन : एक तुलनात्मक अध्ययन, म.प्र. हिन्दी अकादमी, भोपाल, १९७३, पृ. १५६
६. मोक्षज्ञानकार्यमित्युच्यते। बृह.उप.शां.भा., ३.१.१३
७. स्वात्मन्यवस्थान मोक्षः। तैति. उप.भा., १.११
८. अविद्यापगमयात्रत्वात् ब्रह्मप्राप्तिफलस्य। बृह.उप.भा., १.४.१०
९. नहि क्रिया निर्वृनार्थो नित्यो दृष्टः नित्यश्च मोक्षोभ्युपगम्यते। वही. ४.४.६
१०. मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेव आत्मज्ञानस्य फलम्। शां.भा.१.२.४
११. अप्पा हु खलु सययं रक्खियत्वो सविंदिएहिं सुसमाइएहिं। अरक्खिओ जाइपहं उवेइ सुरक्खिओ सव्वदुक्खाण मुच्चई। दशवैकालिक चूलिका, २.१६
१२. कायवाङ्मनःकर्म योगः। तत्त्वार्थसूत्र ६.१
१३. कीरइ जिएणं हेउहिं, जेण तो भण्णए कम्मं। कर्मग्रंथ, प्रथमभाग
१४. पं. सुखलाल संघवी, दर्शन और चिन्तन, पृ.२२५
१५. सिंह, बी.एन., भारतीय दर्शन, स्टूडेण्टस् एण्ड फ्रेण्डस्, बनारस, १९८४, पृ.५०२-३
१६. धर्मरज्वा ब्रजेदूर्ध्वं पापरज्वा ब्रजेदधः। द्वयं ज्ञानसिना दिष्टवा विदेहः शांतिमृच्छति।। शां.भा., श्वेता.उप.१.१
१७. चारित्रं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिदिदट्ठो।

मोहक्खोहविहिणो परिणामो अप्पणो हु समो।। प्रवचनसार, १.७

१८. तद्यथापिपिल्वयनोवल्मीके मृता प्रत्यरता शयीतैवमेवेदं शरीरे शेते। सचक्षुरचक्षुरिव, सकर्णोअकर्ण इव सवागअवागिव समना अमना इव, सप्राणौप्राण इव इति च । शां. भा. ब्र. सू. १.१.४

१९. शंकरभाष्य, ४.४.१०

२०. वही, १.१.४

२१. न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते, विमुक्तश्च विमुच्यत, इत्यादिश्रुतेः। वेदान्तसार, २२६

२२. णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोयसिट्ठरत्थो। बृहद्द्रव्यसंग्रह, ५१

२३. शंकरभाष्य गीता, २.१०, तै.उप. १.३

२४. ब्र.सू. शां.भा., २.१.११, ३.३.३२, शां.भा. गीता, १३.११

२५. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। तत्त्वार्थसूत्र, १.१

जैन दर्शन में स्त्री-मोक्ष संबंधी विचार : एक दार्शनिक समीक्षा*

सुनील राऊत

भारत की कुछ जीवंत धार्मिक परम्पराओं में जैन दर्शन है जो काफी संख्या में ऐसी स्त्रियों को साध्वी के रूप में स्वीकार करता है जो गृहस्थ जीवन त्याग कर संन्यासी जीवन व्यतीत करती हैं। इस तथ्य से ऐसा लग सकता है कि जैन स्त्रियाँ पुरूषों के समान्तर ही धार्मिक और आध्यात्मिक स्थिति धारण करती हैं। किंतु वास्तविकता यह है कि जैन परंपरा के अंदर भी स्त्रियों की स्थिति के बारे में गहरा मतभेद है। इस लेख में, दो मुख्य जैन संप्रदाय-दिगम्बर और श्वेताम्बर के बीच एक पुराने विवाद, 'क्या स्त्रियाँ मोक्ष प्राप्त कर सकती हैं?' की समीक्षा की है।

जैन ग्रंथों का एक गहन अध्ययन लैंगिकता सम्बंधी असमानता को दर्शाता है। ऐसा ग्रंथ स्त्री और उसके शरीर को लैंगिकता सम्बंधी प्रश्नों से सम्बंधित करते हैं। और स्त्री को केवल एक भावनाप्रधान प्राणी के रूप में देखते हैं।

जैन संप्रदायों में चर्चा की पृष्ठभूमि

मुख्यरूप से चर्चा इस प्रश्न पर केंद्रित है कि क्या स्त्रियाँ जैन धर्म में बताए गए महाव्रतों का पालन कर सकती हैं, जिनमें अहिंसा और अपरिग्रह को सबसे ज्यादा महत्व दिया गया है। जैन दर्शन के अनुसार, त्याग अनिवार्य है और गृहस्थ जीवन में मोक्ष संभव नहीं है। एक गृहस्थ लघुव्रतों का पालन कर सकता है और इस निम्न स्तर पर पुरुष और स्त्री दोनो समान पाये जाते हैं। किंतु संन्यासी जीवन में व्यक्ति को महाव्रतों का पालन उनके उत्कट एवं सघन रूप में करना होता है। यहाँ श्वेताम्बर और दिगम्बर संप्रदायों के बीच इसविषय पर मतभेद है कि क्या स्त्रियाँ महाव्रतों का पालन कर सकती हैं?

दिगम्बरों का मानना है कि १. स्त्रियों की शारीरिक संरचना के कारण (जिसमें मासिक बहाव एक मुख्य हिस्सा है) एक प्रकार की हिंसा उनके जीवन में अपरिहार्य है। २. क्योंकि स्त्रियाँ वस्त्र विहीन नहीं रह सकतीं इसलिए एक प्रकार का परिग्रह भी उनके जीवन का एक अनिवार्य अंग बन जाता है। ३. स्त्रियाँ स्वभाव से ही भावना प्रधान (गृहस्थ passionate) होती हैं। अतः वे कभी भी भावनाओं से मुक्त नहीं हो सकतीं। ये सभी बिंदु चर्चा के लिए आवश्यक हैं और प्रस्तुत लेख में श्वेताम्बर और दिगम्बर के बीच इसी विवाद की चर्चा की जाएगी ।

उपर्युक्त दो संप्रदायों के बीच विवाद का एक मुख्य विषय वस्त्र धारण को लेकर था। दिगम्बर मानते हैं कि जैन धर्म के अंतिम तीर्थंकर महावीर एक नग्न संन्यासी थे और उन्होंने अन्य वस्तुओं के साथ-साथ वस्त्र त्याग को भी मोक्ष के लिए आवश्यक माना।[१] वही दूसरी ओर श्वेताम्बर मानते हैं कि भिक्षुओं के लिए वस्त्र त्याग को अनिवार्य नहीं मानना चाहिए। यह केवल एक विकल्प हो सकता है। उपर्युक्त परस्पर विरोधी धारणाओं में सामंजस्य बिठाने के लिए श्वेताम्बरों ने यह तर्क दिया कि यद्यपि महावीर के समय में नग्नता का अभ्यास करना आवश्यक माना जाता था, लेकिन वह आगे की पीढी के लिए संस्तुत (advisable) नहीं था। जैन ग्रंथ सूचित करते हैं कि महावीर के मृत्यु के तुरंत बाद नग्नता का अभ्यास स्थगित हो गया था। इसलिए श्वेताम्बरों ने दिगम्बरों की यह कहते हुए आलोचना की कि वे उनके आगमों की प्रामाणिकता का निषेध करते हैं।

दिगम्बरों ने नग्नता को मोक्ष के लिए अनिवार्य बताया। उनके अनुसार ऐसा कोई व्यक्ति, पुरुष या स्त्री, मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता जिसने वस्त्र त्याग नहीं किया हो। क्योंकि वस्त्र धारण से यौन आकांक्षा आपादित होती है जो लज्जा के रूप में व्यक्त होती है। वहीं दूसरी ओर दिगम्बर आचार्यों ने स्त्रियाँ को किसी भी स्थिति में नग्नता के अभ्यास की अनुमति नहीं दी और इस बात पर जोर दिया कि स्त्रियाँ वस्त्र धारण करें। इससे उन्होंने यह मत प्रतिपादित किया कि स्त्री शरीर को धारण करने वाला व्यक्ति मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता। इस तरह स्त्रियों को सभी प्रकार के परिग्रहों से मुक्त होने की संभावना से अलग रखा गया। इस तरह मोक्षप्राप्ति से भी वंचित रखा गया। यद्यपि स्त्री साधकों को आर्यिका या साध्वी कहा गया लेकिन तकनीकि रूप से उन्हें कभी साधक या संन्यासी नहीं माना गया। वहीं दूसरी ओर, श्वेताम्बरों ने वस्त्रों को एक परिग्रह नहीं माना बल्कि धार्मिक जीवन का एक आवश्यक अंग माना। इसलिए यद्यपि साध्वियाँ नियम के अनुसार वस्त्र पहनती थीं, फिर भी वे अन्य भिक्षुओं के समान साधक का स्थान रखती थीं और इस प्रकार स्त्रियों को उनके स्त्री शरीर के साथ ही मोक्ष के लिए पात्र माना गया। इस प्रकार श्वेताम्बर संप्रदाय में मोक्ष किसी शारीरिक स्थिति पर आधारित नहीं है बल्कि मात्र आध्यात्मिक उन्नति पर आधारित है।

सुत्तपाहुड में कुंदकुदांचार्य का तर्क

कुंदकुंदाचार्य ने परिव्रज्या का स्वरूप स्पष्ट करते हुए अपने ग्रंथ में आठ सूत्र[२]

बताए हैं।

१. जैन तीर्थंकरों ने हमें यह शिक्षा दी है कि मोक्ष का केवल एक ही मार्ग है वह है संपूर्ण नग्नता और हाथों को भिक्षापात्र के रूप में उपयोग करना। अन्य सभी मार्ग असत्य मार्ग हैं।[३]

२. ऐसा भिक्षु जो वस्तुओं को (यहाँ तक कि कपडा, भिक्षापात्र, आदि भी) स्वीकारता है, उसे जैन आगमों में निंदित किया गया है। क्योंकि वही मुक्त है जो गृहस्थ जीवन की सभी संगृहीत वस्तुओं से मुक्त है।

३. जिसने पाँच महाव्रत (सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य) लिए हैं और जो तीन प्रकार की गुप्तियों[४] से सुरक्षित है वही वास्तविक भिक्षु है। केवल वही मोक्ष के मार्ग पर है जो सभी प्रकार के बंधनों से मुक्त (निर्बंध) है।

४. भिक्षु की दुसरी पहचान है कि वह एक उच्च कोटि का श्रोता (श्रावक) है। जो अपने भाषण और पदचाल में पूर्णतः नियंत्रित है। जो अपने भिक्षापात्र में भिक्षा देखकर भी चुपचाप आश्चर्य में रहता है।

५. तीसरी पहचान स्त्रियों के बारे में है, उन्हें आर्यिका[५] कहा जाता है। जो केवल एक समय का भोजन करतीं हैं और केवल एक वस्त्र ही पहनती हैं।

६. जैन शिक्षाओं के अनुसार एक व्यक्ति जो वस्त्र पहनता है वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। चाहे वह तीर्थंकर ही क्यों न हो। मोक्ष मार्ग में नग्नता आवश्यक है। अन्य सभी मार्ग असत्य है।

७. जैन आगमों में कहा गया है कि स्त्रियों के वक्षस्थल में, उनकी नाभि और बगल में बहुत सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते हैं। तब कैसे उनके लिए भिक्षु-अनुशासन (परिव्रज्या) दिया जा सकता है। क्योंकि वे अहिंसा व्रत का उल्लंघन करती हैं।

८. स्त्रियों में मन की शुद्धता नहीं होती। वे स्वभाव से ही चंचल प्रवृत्ति की होती हैं। उनमें मासिक बहाव होता है। अतः स्त्रियाँ चिंतामुक्त होकर साधना या ध्यान नहीं कर सकती।

कुंदकुंदाचार्य के इन तर्कों के विरुद्ध उत्तरपक्ष के रूप में विपरीत विचार वाले अपना प्रतिपक्ष रखते हैं। सबसे पहली प्रतिक्रिया छठी शताब्दी में श्वेताम्बर आचार्य जिनभद्र की ओर से प्राप्त होती है। उनके ग्रंथ 'विशेषावश्यक भाष्य' में ऐसे नियमों का कडा समर्थन किया गया है जो जैन भिक्षुओं को वस्त्रों और भिक्षा पात्र के प्रयोग की अनुमति देते हैं। किंतु अजीब बात यह है कि जिनभद्र कुंदकुंदाचार्य के सर्वाधिक

आपत्तिजनक कथन पर मौन रखते हैं, जिसमें वह जैविक संरचना के आधार पर स्त्रियों की महाव्रत धारण करने की क्षमता पर प्रश्नचिन्ह लगाते हैं। आगे चलकर नौवी शताब्दी में 'स्त्रीनिर्वाणप्रकरण' नामक ग्रंथ में हम विद्वतापूर्ण प्रतिक्रिया पाते हैं, जिसमें मोक्ष प्राप्ति में स्त्रियों के सक्षम होने का समर्थन किया गया है। ऐसा समर्थन न केवल श्वेताम्बर आचार्यों की ओर से नहीं था बल्कि शाकटायन परंपरा के आचार्य यापनीय द्वारा भी दिया गया है।

स्त्री मोक्ष के समर्थन में शाकटायन के विचार

शाकटायन के अनुसार स्त्रियाँ भी निर्वाण प्राप्त कर सकती हैं क्योंकि पुरुषों की भाँती वह भी त्रिरत्न से युक्त हैं। जैसा कि जैन धर्म के सभी संप्रदाय मानते हैं कि मोक्ष केवल मनुष्य जाति को ही प्राप्त हो सकता है। अतः त्रिरत्न जो कि मोक्ष का एक मार्ग है, स्त्रीत्व के साथ असंगत नहीं है। वह आगे कहते हैं, एक साध्वी जैन विचारों को समझती है, उसपर आस्था रखती है और उनका अचूक पालन भी करती है। अतः एक स्त्री होने में और त्रिरत्न में कोई असंगतता नहीं है। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् आस्था की ओर ले जाता है और सम्यक् आस्था सम्यक् आचरण की ओर ले जाती है। यही मुख्यतः त्रिरत्न हैं। इसकी पूर्णता ही व्यक्ति (पुरूष या स्त्री) को मोक्ष प्राप्त कराती है, जो कि सभी कर्मों से मुक्त होना है।

यहाँ पूर्वपक्ष कहता है कि स्त्री निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकती क्योंकि-

१. स्त्रियाँ केवल छठे गुणस्थान तक ही साधना कर सकती हैं क्योंकि सातवें गुणस्थान की प्राप्ति के लिए संपूर्ण गृहस्थ जीवन का त्याग करना होता है।
२. उनमें लब्धि जैसी अलौकिक शक्तियों का अभाव होता है, जैसे वाद-विवाद या शास्त्रार्थ जितना।
३. स्त्रियाँ जिनकल्प के (तीर्थंकरों के) विचारों का विषय नहीं होतीं।

उपर्युक्त तर्कों के विरुद्ध शाकटायन कहते हैं कि:-

१. यह सत्य नहीं है क्योंकि कुछ गुणों (जैसे-सातवें गुणस्थान पर जाने की योग्यता) के अभाव को मोक्ष प्राप्ति की अयोग्यता के साथ मिलाना अनुपयुक्त है।
२. इसके अतिरिक्त निषितभाष्य[६] में ऐसा उल्लेख है कि बीस दोषों[७] से युक्त व्यक्ति को दीक्षा नहीं देनी चाहिये। किंतु यह कहीं भी नहीं कहा गया है कि स्त्री होना मोक्ष प्राप्ति के विरुद्ध है। अतः स्त्री होना भिक्षु होने के मार्ग में कोई बाधा नहीं

है।

३. ऐसा कोई अंतिम नियम भी नहीं है कि मोक्ष केवल उन्हीं के लिए संभव है जिन्होंने जिनकल्प का पूर्ण परित्याग कर दिया है आदि। और न ही उन भिक्षुओं के लिए है जो स्थविरकल्प के निषेध-आज्ञाओं का अनुपालन करते हैं।[८]

दिगम्बर कहते हैं कि यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि मोक्ष वस्त्र पहनने पर ही संभव है तब यह एक साधारण आदमी के लिए संभव क्यों नहीं? यापन्नीयों का उत्तर है कि गृहस्थी में परिग्रह की भावना होती है और चूँकि वह किसी निरोध या अनुशासन के अंतर्गत वस्त्र नहीं पहनता (साध्वी से भिन्न), वह बिना किसी पूर्ण निग्रह के जीवन जीता है। अतः वह मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता।

आगे प्रतिपक्ष में कुंदकुंदाचार्य कहते हैं कि जैसा कि आगमों में कहा गया है, पुरुषों का स्थान स्त्रियों से ऊँचा है। स्त्रीयों को छोटा या कमजोर प्राणी के रूप में देखा गया है। इसलिए यह नियम मोक्ष प्राप्ति के विषय में भी लागू होता है।

इस बिंदु पर यापन्नीय कहते हैं कि सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि 'सिद्ध' अवस्था न ही पुरुषवादी होती है न ही स्त्रीवादी। इसलिए महाव्रतों के संबंध में पुरुष और स्त्री का स्तर समान है। हालाँकि आगमों में यह उल्लिखित है कि स्त्रियाँ दोषपूर्ण, अग्रह, चंचल आदि होती हैं। किंतु पुरुष भी ऐसे दोषपूर्ण, अशुद्ध और चंचल होते हैं। क्योंकि इन दोषों से उत्पन्न कर्मों के संबंध में स्त्री-पुरुष जैसा कोई भेद नहीं किया गया है। बल्कि ऐसी साध्वियाँ हुई हैं जो आगमों में अपने सत्व के कारण प्रसिद्ध हैं। कुछ मुख्य साध्वियाँ जैसे-ब्राह्मी, सुंदरी, रिजुमती, चंदना[९] आदि है। गृहस्थ जीवन में भी सीता जैसी स्त्रियाँ हैं, जो अपने सदाचरण और अपने सत्त्व के कारण जानी जाती हैं। अतः कैसे इन स्त्रियों को तप करने में असक्षम और पवित्र आचरण से रहित माना जा सकता हैं? इसके अतिरिक्त यापन्नीय आगमों से उस कथन का भी उल्लेख करते हैं जिसमें कहा गया हैं कि स्त्री-पुरुष दोनों के लिए चौदह गुणस्थान उपलब्ध हैं। अतः इस विचार को स्वीकार करना संभव नहीं है कि स्त्रियाँ निर्वाण नहीं प्राप्त कर सकती क्योंकि ऐसा कोई ठोस प्रमाण नहीं हैं।

आचार्य प्रभाचंद्रसूरी के स्त्री मुक्ति संबंधी विचार :

आचार्य प्रभाचंद्रसूरी[१०]- यापन्नीयों के साथ चर्चा का प्रारंभ दिगंबरों के दृष्टिकोण से शुरू करते हैं। जैसा कि यापन्नीय कहते हैं कि स्त्रियों के लिए भी निर्वाण शक्य है

क्योंकि उनमें भी मोक्ष के लिए अनिवार्य दशाएँ पाई जाती हैं, जैसाकि पुरुषों में पाई जाती हैं। इसके विरुद्ध दिगंबर आक्षेप करते हैं कि उभयलिंगी की भाँति स्त्रियों में भी मोक्ष के लिए आवश्यक विशेषताओं का (For infinite, knowledge, perception, bliss, energy) अभाव होता है। उनके अनुसार स्त्री मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकती क्योंकि वह वस्त्र धारण करती है। ऐसा इसलिए क्योंकि कपडों में कीटाणु पनपते हैं और ऐसे में उनकी हिंसा अपरिहार्य हो जाती है।

किंतु यापन्नीयों का कथन है कि ऐसी किसी आकस्मिक हिंसा को हिंसा नहीं माना जा सकता क्योंकि यह किसी असावधानी या लापरवाही से उत्पन्न नहीं होती। जबकि सावधानी अपने आप में ही एक हिंसा है। जैसा की आगम कहते हैं, व्यक्ति के जीवन में असावधानीपूर्ण किए गए कृत्य ही हिंसा है।[११] यदि ऐसा न होता तब तो एक नग्न साधू भी भिक्षा और औषधि आदि लेने में हिंसा करता हुआ माना जाएगा। इसलिए यह तर्क स्त्री को मोक्ष से दूर नहीं रख सकता। ऐसा कहा गया है कि असंयमित आचरण ही हिंसा है। एक संयमी व्यक्ति के लिए कोई बंधंन नहीं है क्योंकि उसने स्वयं को सभी प्रकार की हिंसाओं से संयमित कर लिया है। इसलिए यापन्नीयों का तर्क है कि त्रिरत्नों का धारण ही मोक्ष के लिए अनिवार्य शर्त है। अतः निकृष्टता या उत्कृष्टता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

आचार्य जयसेन के स्त्री मुक्ति विरुद्ध विचार

प्रभाचंद्रसूरी के बाद एक दूसरे दिगंबर आचार्य जयसेन ने भी स्त्री मुक्ति की संभावना का विरोध किया। उनका तर्क संन्यासियों के अनुशासन से संबंधित है। यह मोक्ष के लिए नग्नता को एक आवश्यक शर्त मानता है। दूसरे तर्क में जयसेन स्त्री की जैविक संरचना को आधार बनाते हैं। वह मासिक बहाव जैसी जैविक विशिष्टताओं को आधार बनाकर स्त्री की तथाकथित अशुद्धता की बात कहते हैं। उनके अनुसार यह न केवल मन को चंचल बनाती हैं बल्कि शरीर को अस्वस्थ भी करती है। इसके अतिरिक्त गर्भधारण और जीव उत्पत्ति संबंधी तथाकथित दुर्गुणों से युक्त होना उसे महाव्रतों के पालन के अयोग्य बनाता है। जयसेन स्त्रियों द्वारा पूर्ण कर्मनाश की संभावना से इनकार करते हैं।[१२]

स्त्री मुक्ति के संबंध में आचार्य गुणरत्न का उत्तर :

आचार्य गुणरत्न श्वेतांबर दृष्टिकोण को आगे बढाते हुए यह तर्क करते है [१३] कि वस्त्र अपने आप में मोक्ष के लिए हानिकारक या बाधक नहीं है। वस्त्र पहनने का अर्थ

है एक पवित्र जीवन जीना। दिगंबरो के तर्क को निरस्त करते हुए आचार्य गुणरत्न कहते हैं कि मोक्ष के अनिवार्य कारक हैं, सम्यक् दर्शन , सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचरण और स्त्रियाँ पूर्णतया इनको प्राप्त करने में सक्षम हैं। इसलिए वे मोक्ष प्राप्त करने योग्य हैं।

स्त्री मुक्तिसंबंधी आचार्य मेघविजय के विचार

आचार्य मेघविजय दिगंबरों के इस मत का खंडन करते हैं कि स्त्रियाँ स्वभावतः चंचल होती हैं। वह स्त्रियों की अशुद्धता संबंधी धारणाओं का भी खंडन करते हैं। यहाँ तक कि वह नपुंसक के लिए भी मोक्ष की शक्यता बताते हैं। वह आगे यह भी कहते हैं कि स्त्रियाँ दिगंबरों द्वारा प्रतिपादित ग्यारह प्रतिमाओं संबंधी महाव्रतों का पालन करने में सक्षम हैं और यह भी कि, संन्यासियों द्वारा कपडे, भिक्षापात्र, आदि रखना कोई परिग्रह नहीं है।

इस प्रकार मेघविजय का योगदान उनका पुरुष, स्त्री और नपुंसक की जैविकीय और मनोवैज्ञानिक लक्षणों के बीच भेद प्रतिपादित करना है। उनके अनुसार जब एक व्यक्ति का मन पुंवेद से उत्पन्न स्त्री संबंधी यौन आकांक्षा पर विजय प्राप्त कर लेता है तो वह 'भावपुरुष' कहलाता है। और जब व्यक्ति का मन स्त्रीवेद से उत्पन्न पुरुष संबंधी यौन आकांक्षा पर विजय प्राप्त कर लेता है तब वह 'भावस्त्री' कहलाता है। उसी प्रकार नपुंसकवेद से उत्पन्न दोनों प्रकार की यौन आकांक्षाओं से उपर उठने वाले व्यक्ति के 'भावनपुंसक' कहते हैं। अतः दिगंबर और श्वेतांबर का विवाद स्त्री-पुरुष और नपुंसक व्यक्तिओं के इसी शारीरिक और मनोवैज्ञानिक भेद पर केंद्रित रहता है।

आचार्य मेघविजय इस बात की भी पुष्टि करते हैं कि तीर्थंकर मल्लिनाथ वस्तुतः मल्ली नामक एक स्त्री तीर्थंकर थी, जिसे दिगंबरों ने पुरुष के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। तीर्थंकर मल्ली वह स्त्री थी जिसने अपने किशोरावस्था में ही केवलज्ञान प्राप्त कर लिया था। तीर्थंकर मल्ली की स्त्री प्रतिमाऐं इसके प्रमाण हैं।

मेघविजय का दिगंबरों के विरुद्ध तर्क है कि स्त्रियों के लिए वस्त्र त्याग द्वारा पूर्ण अपरिग्रह और अहिंसा का पालन करना संभव नहीं है। किंतु यदि वे ब्रह्मचर्य के अपने महाव्रत का पालन करने के लिए वस्त्र पहनती हैं तो ऐसा करना बिलकुल न्यायोचित है। मेघविजय यह भी तर्क करते हैं कि साधुओं के वस्त्र और अन्य वस्तुऐं परिग्रह नहीं हैं क्योंकि वे उनके संयम साधना में सहायक है। उदाहरण के लिए जलपात्र, मोरपंख की झाडू आदि।

मेघविजय स्त्री प्रशंसा में कहते हैं कि वे अनिवार्यतया अच्छे स्वभाव की होती हैं। उनके सद्गुणों के कारण ही स्त्रियाँ शुद्ध मन और कोमल शरीर लेकर जन्म लेती हैं। वह एक ऐसी आदर्श माँ का भी उल्लेख करते हैं जिसके सद्गुणों की प्रशंसा देवताओं ने भी तीर्थंकर के जन्मोत्सव पर की थी।

उपसंहार :

इस प्रकार हम पाते हैं कि आध्यात्मिक जीवन मे प्रवेश हेतु स्त्रियों की योग्यता और उस काल में स्त्रियों की स्थिति का विवेचन जैन दर्शन का एक रूचिकर पहलू है जिसपर दिगंबर कुंदकुंदाचार्य से लेकर श्वेतांबर आचार्य मेघविजय तक अनेक जैन आचार्यों ने प्रकाश डाला है। विशेषकर दिगंबर जैन संप्रदाय में स्त्रियों और उनके शरीर के प्रति एक विकारयुक्त व दोषपूर्ण प्रवृत्ति दिखाई देती है। कुंदकुंदाचार्य के 'सुत्तपाहुड्ड' में हम तीन प्रकार के मुख्य तर्क पाते हैं। यही तीन प्रकार के तर्क दिगंबर जैन परंपरा में स्त्री मुक्ति के विरोध में बार बार दोहराए गए हैं।

अतः अब हम तर्कों की आलोचनात्मक दृष्टि से परीक्षण करते हैं।

१. अपरिग्रह संबंधी तर्क :

इस तर्क की आलोचना में यहाँ यह आवश्यक हो जाता है कि हम आंतरिक अपरिग्रह और बाह्य अपरिग्रह में भेद करें। एक तरह से भौतिक शरीर भी जीव के लिए एक परिग्रह है। ऐसे में वह वस्त्र पहनता है या नहीं यह अप्रासंगिक हो जाता है। क्योंकि एक जीव शरीर के रूप में वह बिना परिग्रह के नहीं रह सकता। किंतु मुख्य प्रश्न आंतरिक परिग्रह के विषय में है। जैन परंपरा में मनोभाव जीव के आंतरिक परिग्रह को निर्मित करते हैं। यदि जीव उनसे मुक्त है तो वह मुक्त कहा जा सकता है। उस दशा में जीव शरीर युक्त है या नहीं और जीव कपडों में है या नहीं यह सभी बातें अप्रासंगिक हो जाती हैं। जहाँ तक आंतरिक अपरिग्रह का प्रश्न है, दिगंबर ऐसा मानते प्रतीत होते हैं कि आंतरिक और बाह्य परिग्रह अभिन्न है इस प्रकार कि बाह्य परिग्रह से आंतरिक परिग्रह अनिवार्य रूप से आपादित होता है। किंतु यहाँ मैं मानता हूँ कि श्वेतांबर यह दर्शाने में सही हैं कि बाह्य परिग्रह से आंतरिक परिग्रह अनिवार्यतः नहीं निकलता।

इस पूरी चर्चा में जिसमें वस्त्रधारण को परिग्रह माना गया है, दोनों ही पक्षों की एक सामान्य पूर्वमान्यता है कि स्त्रियों के लिए वस्त्रधारण अनिवार्य है, जब कि पुरुषों के लिए नहीं। यह एक सामाजिक, सांस्कृतिक पूर्व मान्यता है। जिसपर तार्किक दृष्टि

से प्रश्न उठाया जा सकता है। तार्किक दृष्टि से यह पूरी तरह से स्वीकारणीय है कि स्त्रियाँ भी पुरुषों की भांति नग्न संन्यासी का जीवन जी सकती हैं। आचार्य मेघविजय इसी बात को अपने तर्क में उठाते हैं।

एक पुरुष प्रधान समाज में लैंगिकता का विचार भी पुरुष प्रधान है और पुरुषों का स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण अक्सर भोगवस्तु से अधिक कुछ नहीं होता। इसलिए नग्न स्त्री को भोगवस्तु माना जाता है। जबकि नग्न पुरुष को भोगवस्तु बिलकुल नहीं माना जाता। बल्कि दिगंबर जैन परंपरा में इसे ऐसे व्यक्ति की पहचान बताया गया है जिसने अपने इंद्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है। ऐसी स्थिति में स्त्री का एक नग्न साध्वी के रूप में विचार को न केवल अस्वीकार्य माना गया बल्कि अकल्पनीय माना गया। इस प्रकार जैन विमर्श में दोनों ही पक्ष आचार्य मेघविजय के स्त्रियों के प्रति एक आदर्श दृष्टिकोण को शामिल नहीं करते हैं।

वस्त्रादि पहनना सांस्कृतिक बात है। संस्कृति कालानुरूप रहती है। संस्कृति के सभी मूल्य नैतिक नहीं होते हैं। यह बिंदु ब्रह्मचर्य की अवधारणा से भी संबंधित हैं। स्त्रियों के वस्त्रधारण की अनिवार्यता का संबंध पुरुषों के ब्रह्मचर्य से भी था। ऐसा माना गया कि वस्त्ररहित स्त्री को देखने पर पुरुषों का ब्रह्मचर्य संबंधी व्रत टूट सकता है। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि पुरुष संन्यासी द्वारा अपने इंद्रिय संयम को बनाये रखने के लिए स्त्रियों के वस्त्रधारण की अनिवार्यता पर जोर दिया गया। वास्तव में यह पुरुषों की समस्या थी कि वे ऐसे दृश्यों से आत्मनियंत्रण खो सकते हैं। किंतु अपनी कमजोरियों को स्वीकारने के बजाय पुरुषों ने उनको स्त्रियों पर थोप दिया।

नग्नता का परिणाम हमेशा सभी लोगों पर वासनाओं को जगानेवाला नहीं है। नग्नता ऐसी सीख है जिससे नग्न व्यक्ति अपनी वासनाओं को नियंत्रित करते हैं। यह पुरुष केन्द्रित और पुरुष की दृष्टि से सोचा विचार है। यह जरुरी नहीं है कि स्त्री की दृष्टि से यही निष्कर्ष प्राप्त हो।

२. अहिंसा संबंधी तर्क :

दिगम्बर स्त्रियों के विरुद्ध हिंसा संबंधी आपत्तियाँ लगाते हैं।

१. स्त्रियों को कपडे पहनना जरुरी है और कपडे पहनने से हिंसा होती है।

२. स्त्री शरीर में कई प्रकार के सूक्ष्म जीव पैदा होते हैं।

३. मासिक बहाव भी एक प्रकार की हिंसा पैदा करता है।

ये सभी आपत्तियाँ तीव्र आलोचना योग्य हैं। सर्वप्रथम जिस प्रकार अपरिग्रह की

चर्चा में हमने आंतरिक और बाह्य अपरिग्रह में भेद किया उसी प्रकार हिंसा और अहिंसा की चर्चा में भी हमे आंतरिक और बाह्य हिंसा और आंतरिक और बाह्य अहिंसा में भी भेद करना होगा।

जैन दर्शन में कभी-कभी आंतरिक या बाह्य स्तर पर हिंसा की किसी भी संभावना को टालने की प्रवृत्ति पाते हैं। यद्यपि साधू और साध्वियों को सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव हिंसा से बचने का विशेष निर्देश दिया गया है फिर भी कुछ ऐसी हिंसाएँ होती हैं जिनके प्रति वे सचेत नहीं रहते। वास्तव में हम कितना भी हिंसा से बचने का प्रयास करें हिंसा का पूरी तरह निराकरण मानवीय रूप से असंभव है। इस प्रकार हम उद्देश्यपरक हिंसा और अनुद्देश्यपरक हिंसा (intentional and non-intentional *Himsa*) में भेद कर सकते हैं और हिंसा को केवल उद्देश्यपरक हिंसा के रूप में ले सकते हैं। यदि हम हिंसा के संदर्भ में स्त्रियों के विरुद्ध आपत्तियों को देखें तो हम पाते हैं कि अधिकांश हिंसा अनुद्देश्यपरक होती है। कपडे पहनने से होनेवाली हिंसा उद्देश्यपरक नहीं हो सकती क्योंकि स्त्रियाँ हिंसा करने के उद्देश्य से कपडे नहीं पहनती। बल्कि स्त्री हो या पुरुष कपडे पहनने का संबंध सांस्कृतिक, सामाजिक परंपरा से संबंधित है।

यह आपत्ति कि केवल स्त्रियों के अंगों में सूक्ष्म जीव पनपते हैं सरासर गलत है, क्योंकि पुरुष शरीर में भी सूक्ष्म जीव पनपते हैं। लेकिन शरीर में उत्पन्न कीटाणुओं की हिंसा उद्देश्यपरक हिंसा नहीं है। स्त्री में मासिक बहाव का होना एक नितांत प्राकृतिक घटना है और इसे किसी भी दृष्टि से उद्देश्यपरक हिंसा के अंतर्गत नहीं माना जा सकता। दूसरे, स्त्री के जीवन में मासिक बहाव कोई निरंतर घटना नहीं है। यदि यह मोक्ष प्राप्ति में बाधा होता तो दिगंबरों द्वारा मासिक बहाव समाप्त होने कि आयु में स्त्रियों को मोक्ष प्राप्ति की अनुमति दी जानी चाहिए थी। लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। ये देखना महत्त्वपूर्ण है कि अमृतचंद्र जैसे दिगंबर विद्वानों में आंतरिक और बाह्य हिंसा और अहिंसा के भेद पर बल दिया है। उनके अनुसार मन में राग का उदय होना ही अपने में एक हिंसा है और मन में राग का बिलकुल न होना ही अहिंसा है। अतः यदि मन में कोई राग उत्पन्न न हो और बाह्य रूप मे कोई हिंसा हो जाये तो उसे हिंसा नहीं कहा जा सकता।[१५] अमृतचंद्र के अनुसार, किंतु प्राचीन दिगम्बर आचार्य इस महत्त्वपूर्ण भेद को भूल जाते हैं और स्त्रियों पर सूक्ष्म जीव हिंसा का आरोप लगाते हैं। स्त्री में स्वाभाविक मासिक बहाव है और एक मासिक बहाव में एक ही

अण्डनाश है। जबकि पुरुष के एक वीर्यपात में कुछ लाख शुक्राणु नाश है।

३. अशुद्ध मन संबंधी तर्क :

कुंदकुंदाचार्य का तर्क है कि स्त्रियाँ आवश्यक रूप से पुरुष से शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्तर पर निकृष्ट होती हैं। लेकिन यह तर्क पूरी तरह एक हठवाद है और पर्याप्त प्रमाणों पर आधारित नहीं है। शारीरिक कमजोरी को मुख्य तर्क नहीं माना जा सकता क्योंकि मोक्ष के लिए जो आवश्यक है वह है मानसिक, आध्यात्मिक शक्ति न कि शारीरिक शक्ति।

दिगंबर आचार्य यह स्थापित करने में असफल रहे हैं कि स्त्रियाँ आत्मसंयम नहीं रख सकतीं क्योंकि वे स्त्री हैं। मनोभाव और अर्धमनोभाव (passions and quasi-passions) संबंधी समस्या सभी मनुष्यों के लिए है चाहे वह स्त्री हो या पुरुष। किंतु चूँकि जैन परंपरा के अनुसार वे सभी जीव हैं और जीव में स्वयं को नियंत्रित करने के लिए तात्त्विक रूप से अनंत वीर्य की क्षमता होती है। अतः ऐसा कोई कारण नहीं दिखता कि क्योंकि स्त्रियाँ इस क्षमता का प्रयोग नहीं कर सकती।

यदि हम दिगंबरों के विरुद्ध श्वेतांबर और यापन्नीयों के तर्कों के बीच तुलना करें तो हम पाते हैं कि जैन परंपरा में स्त्रियों के समर्थन में तर्क मजबूत से मजबूत होता गया है। आचार्य मेघविजय में हम स्त्रियों के मोक्ष संबंधी समर्थन का एक ठोस प्रमाण पाते हैं। यापन्नीयों के तर्क सामान्यतया रक्षात्मक हैं वहीं दूसरी ओर मेघविजय के तर्क अधिक आक्रामक और ठोस हैं। यापन्नीय यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि स्त्रियाँ पुरुषों के समान हैं बल्कि मेघविजय का तर्क यह दर्शाता है कि कुछ पहलुओं में स्त्रियाँ पुरुषों की तुलना में उत्कृष्ट और श्रेष्ठ होती हैं।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

*प्रस्तुत शोध पत्र प्रो. पी.पी.गोखले के मार्गदर्शन में किये गये लेखक के एम.फिल.शोध निबंध पर आधारित है।

१. एक अपवाद जो उनको अनुमन्य था वह भी रजोहरण, एक झाडू जिसका उपयोग वह अपने बैठने के स्थान को साफ करने के लिए प्रयोग करते थे और एक कमंडलू जो उनके नित्यक्रिया में उपयोग होने वाले जल का पात्र था।

२. जैनी, पी.एस. जेन्डर एन्ड साल्वेशन, मुन्शीलाल मनोहरलाल पब्लिशर्स, (प्रा.) लि., दिल्ली, १९९१, पृ. ३४-३५

३. कुंदकुंदाचार्य अपने बताए हुए दोषपूर्ण मार्गों का स्पष्ट विवेचन नहीं करते हैं। किन्तु, यह स्पष्ट है कि यहाँ वे उनका निर्देश कर रहे हैं, जो वस्त्र पहनते हैं और भिक्षा पात्र रखते हैं। यह विवरण एक श्वेताम्बर भिक्षु पर सटीक बैठता है। इसके अतिरिक्त यह ब्राह्मणवादी और बौद्ध अनुशासन से मेल खाता है।

४. यहाँ कर्म के तीन द्वारों (मनस्, वाणी और शरीर) के रक्षण का संकेत है।

५. आर्यिका का अर्थ है, एक आदर्श स्त्री श्राविका होने योग्य है।

६. जैन, माणिकचंद डी., (अनु. व संपा.) निवित्तभाष्य, माणिकचन्द जैन ग्रन्थ प्रकाशन, गुजरात, १९७०, सूत्र ३५०६-३५०८.

७. बालक, वृद्ध पुरुष, उभयलिंगी (किन्नर), मंदबुद्धि व्यक्ति, नपुंसक व्यक्ति, व्याधी युक्त व्यक्ति, ऋणी व्यक्ति, अपराधी व्यक्ति, दुराचारी व्यक्ति, अनर्गल बोलनेवाला व्यक्ति, जिसने जैन शिक्षाओं को अस्वीकार किया है, गर्भवती स्त्री, वह स्त्री जिसके छोटे बच्चे/बच्चा है आदि।

८. वही, जैनी, पी.एस., सूत्र ५८, पृ. ६५

९. ब्राह्मी और सुन्दरी प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की दो पुत्रियाँ थीं जो बिना गृहस्थ जीवन में प्रवेश किये ही साध्वी बन गयी थी। रजोमती, बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की मंगेतर थी, जिसने विवाह की संध्या को ही उनके साथ संसार छोडकर संन्यासी जीवन अंगीकार किया। चन्दना, महावीर की छत्तीस हजार साध्वीओं के समूह की प्रमुख थी ।

१०. जैन, महेन्द्रकुमार, (अनु. व संपा.), 'न्यायकुमुदचन्द्र', श्री. सत्गुरू प्रकाशन, दिल्ली, १९९६, पृ. ८६५-८७८

११. दीक्षित, के.के., (अनु. व संपा.), 'तत्त्वार्थसूत्र', एल.डी. संस्थान, अहमदाबाद, १९७४, पृ. ७, १३

१२. सूत्रप्रभृत, सूत्र ६, ८

१३. जैन, महेन्द्रकुमार, (अनु. व संपा.) तर्करहस्यदीपिका वृत्ती, श्री सत्गुरू प्रकाशन, दिल्ली, १९७०, पृ. ३०१-३०८, सूत्र १

१४. अमृतचन्द्र, 'पुरुषार्थसिद्धुपाय', श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमतराजचन्द्र आश्रम, आगास, गुजरात, १९६६, सूत्र ४४-४५

आचार्य भावसेन कृत वेद प्रामाण्यवाद की समीक्षा

संदीप कुमार

भारत की प्राचीन सभ्यता- कला, स्थापत्य, साहित्य, धर्म, नीति तथा विज्ञान- इन सब का एक समन्वित मूर्त रूप था। किन्तु भारत की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वैचारिक उपलब्धि थी - दर्शन। यही समस्त मूर्धन्य व्यवहारिक एवं सैद्धान्तिक गतिविधियों का चरम लक्ष्य माना जाता था तथा विविध प्रकार की जातियों वाले इस विशाल भूभाग की सामाजिक संस्कृति में जो विविधता है- उसमें एकता तथा तादात्म्य स्थापित करने वाला यही एक बिंदु था। यह एकता हमारी प्राचीन संस्कृति की एक आत्मिक आकांक्षा का फल थी, उन आध्यात्मिक सिद्धांतों के महत्त्वबोध का फल थी- जो अन्य सभी मूल्यों की बजाय कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाते थे और यह भावना विभिन्न राजनीतिक परिवर्तनों के युगों की लम्बी यात्रा के बाद आज भी जीवन्त है।[१]

भारतीय दर्शन परम्परा में नौ दर्शनों को शामिल किया जाता है। इसके दो प्रमुख तथा प्राचीन वर्ग हैं- 'आस्तिक' तथा 'नास्तिक'। यहाँ अस्तिक और नास्तिक विशेष अर्थ में प्रयुक्त हैं, न कि साधारण। सामान्यत: आस्तिक के दो अर्थ हैं- प्रथम व्युत्पत्तिमूलक तथा दूसरा परम्परागत अर्थ। व्युत्पत्ति के अनुसार आस्तिक वही है, जिसकी परलोक और पुनर्जन्म में आस्था हो। इसके विपरीत जो परलोक और पुनर्जन्म को अस्वीकार करता है, वह नास्तिक है। इस अर्थ को स्वीकार करने में कठिनाई यह है कि बौद्ध और जैन दार्शनिक पुनर्जन्म को मानते हुए भी मान्य विभाजन में नास्तिक कहलाते हैं। परम्परागत अर्थ के अनुसार ईश्वर और आत्मा में आस्था रखने वाले को आस्तिक तथा अनास्था रखने वाले को नास्तिक मानते हैं। किंतु इसमें भी एक कठिनाई है- ईश्वर में अविश्वास रखने वाले मीमांसा और सांख्य को आस्तिक माना जाता है। वहीं आत्मा में विश्वास करने वाले जैन दर्शन को नास्तिक माना जाता है। दार्शनिक दृष्टि से आस्तिक- नास्तिक का एक विशेष पारिभाषिक अर्थ है- आस्तिक दर्शन वेदों को प्रमाण मानते हैं, वहीं नास्तिक दर्शनों को वेदों का प्रामाण्य स्वीकार नहीं है। वेदों की निन्दा करने वाला नास्तिक है। मनुस्मृति का 'नास्तिको वेद निन्दक:' वाक्य प्रसिद्ध है। इसप्रकार तीन मुख्यतया नास्तिक दर्शन हैं- चार्वाक, बौद्ध एवं जैन तथा छ: आस्तिक दर्शन हैं- सांख्य, योग,

न्याय, वैशेषिक, मीमांसा एवं वेदांत। इन्हें साधारणतः षड्दर्शन के नाम से जाना जाता है।

इस प्रकार वेद हमारी संस्कृति के मूल स्तंभ, अपौरुषेय, नित्य, अलौकिक और अनंत ज्ञान के अक्षुण्ण भंडार हैं। वैदिक वाक्य मंत्र हैं, इनकी प्रामाणिकता स्वतःसिद्ध है। नास्तिकवादी विचारधारा के अनुसार वेद साधारण ग्रंथ के रूप में माने जाते हैं, स्वतः प्रमाण नहीं माने जाते और यह आवश्यक नहीं समझा जाता कि सिद्धांतों की पुष्टि के लिए केवल वेदों को ही आधार माना जाये।

नास्तिक दर्शनों विशेषकर जैन दर्शन ने वेदों के प्रामाण्य एवं उनकी अपौरुषेयता का खंडन किया है। जैनाचार्य भावसेन त्रैविध ने अपने ग्रंथ 'विश्वतत्त्वप्रकाश' में वेदों की अपौरुषेयता का अनेक तर्कों द्वारा निरास किया है। वेदों की अपौरुषेयता के खंडन से पूर्व आस्तिक दर्शनों द्वारा अपौरुषेयता की स्वीकार्यता को जानना आवश्यक है। मीमांसा का मत वेदों की अपौरुषेयता के मंडन के लिए प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित है। मीमांसा के अनुसार वेद अनादि और नित्य हैं। वेद सब सत्य विद्याओं का भंडार हैं।

आचार्य भावसेन का मत

१. वेदों के आपौरुषेयत्व का निरास –

चार्वाकों के अनुसार कादम्बरी आदि के वाक्यों के समान सभी वाक्य पुरुषकृत होते हैं अतः वेद वाक्य भी पुरुषकृत हैं। यह मत जैन दार्शनिकों को भी स्वीकार्य है।

(अ) आचार्य भावसेन के अनुसार मीमांसकों ने वेदों को अपौरुषेय माना है क्योंकि वेदाध्ययन की परम्परा अविच्छिन्न है किंतु उनके कर्ता कौन हैं इसका किसी को स्मरण नहीं है। यदि कोई कर्ता होता तो किसी को उसका स्मरण अवश्य होता।

आचार्य भावसेन के अनुसार मीमांसा का यह तर्क दोषपूर्ण है। कर्ता का स्मरण नहीं है, अतः कर्ता ही नहीं है यह उचित नहीं है। उदाहरणार्थ– त्रिपिटक के कर्ता का स्मरण नहीं है अतः वे भी अपौरुषेय है। जबकि बौद्ध विद्वान इन्हें पौरुषेय/पुरुषकृत मानते हैं। जब पिटकत्रय को अप्रमाण माना जाता है तो वेद भी अप्रमाण होगें– दोनों में विशेष अंतर नहीं है।

उपरोक्त तर्क–'वेद का कर्ता ही नहीं है अतः उसका स्मरण नहीं होता', में अन्योन्याश्रय दोष है। क्योंकि पहले कहा गया है कि स्मरण नहीं होता इसलिये कर्ता नहीं है। अब कहा गया कि कर्ता नहीं है इसलिए स्मरण नहीं होता। इसे सिद्ध करने

के लिए किसी स्वतंत्र प्रमाण की आवश्यकता है। यह कहने से परस्पराश्रित दोष है कि वेद अपौरुषेय है इसलिए प्रमाण है।[२] दूसरा कथन वेद प्रमाण है अत: अपौरुषेय है। आचार्य भावसेन के अनुसार जैन आगम सर्वज्ञप्रणीत होने से प्रमाणभूत होते हैं। अत: प्रमाण होने के लिए अपौरुषेय होना जरुरी नहीं।

(ब) आचार्य भावसेन के अनुसार वेद के कर्ता का स्मरण नहीं है, कथन उचित नहीं है। बौद्ध दार्शनिकों का मत है कि वेद के कर्ता अष्टक, याज्ञवल्क्य आदि ऋषि है। इस पर आक्षेप करते हुए मीमांसकों का तर्क है कि प्रतिपक्षियों में वेद के कर्ता के विषय में मतैक्य नहीं है अत: उनके कथन विश्वसनीय नहीं है। जैनाचार्य भावसेन के अनुसार प्रतिपक्षियों में वेद के कर्ता के नाम के बारे में मतैक्य नहीं होने के बावजूद वेद का कोई कर्ता अवश्य था इस विषय में एकमत है। अत: वेद के कर्ता का स्मरण ही नहीं है यह कहना उचित नहीं है।

(स) मीमांसको का एक आक्षेप यह है कि जिसे एक बार किसी वस्तु का अनुभव हुआ है उसे ही उसका स्मरण हो सकता है। प्रतिवादी को वेद-कर्ता का अनुभव ही नहीं हुआ है अत: स्मरण भी नहीं हो सकता।

आचार्य भावसेन का उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष अनुभव न होने पर भी वृद्धों के उपदेश से वेद के कर्ता का स्मरण हो सकता है तथा शब्द/वाक्य पुरुषकृत होते हैं इस अनुमान से भी वेद के कर्ता का अनुमान हो सकता है। द्वितीय, सभी देश और सभी कालों में सभी व्यक्तियों को कैसे हुआ? यदि ऐसा संभव है तो मीमांसक सर्वज्ञ ही सिद्ध होंगे।

(द) मीमांसकों का तर्क है कि-

वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययन यथा।।[३]

अर्थात् जैसे इस समय वेद का अध्ययन गुरु परम्परा से किया जाता है वैसे ही सर्वदा होता है- वेदाध्ययन अविच्छिन्न गुरू परम्परा से चलता है। अत: वह अनादि है- किसी व्यक्ति द्वारा शुरू किया हुआ नहीं है।

आचार्य भावसेन के अनुसार यह कथन सदोष है। आपस्तम्ब सूत्र, बौधायन कल्पसूत्र, बौधायन, कण्व शाखा इन नामों से ही स्पष्ट है कि आपस्तम्ब, बौधायन, कण्व आदि आचार्यों ने वेदाध्ययन की उस शाखा का प्रारम्भ किया है। अत: वेदाध्ययन की परम्परा अनादि नहीं है। द्वितीय, इस समय वेद का ही अध्ययन गुरू-

शिष्य परम्परा से चलता है ऐसा नहीं– पिटकत्रय का अध्ययन भी गुरू शिष्य परंपरा से ही चलता है।

पिटकाध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
पिटकाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा।।[४]

फिर मीमांसक पिटकत्रय को प्रमाणभूत क्यों नहीं मानते? यदि बौद्ध त्रिपिटक को पुरुषकृत मानते हैं अतः वे अप्रमाण हैं तो बौद्ध मतानुसार वेद भी पुरुषकृत हैं अतः उन्हें भी अप्रमाण मानना होगा। अतः वेद और पिटकत्रय के प्रमाणभूत होने में अंतर करना पक्षपातपूर्ण होगा, तार्किक नहीं।[५] मीमांसकों ने अनुमान प्रस्तुत किया है कि

अतीतानागतौ कालौ वेदकारविवर्जितौ।
कालशब्दाभिधेयत्वादिदानींतनकालवत।।[६]

यह काल वेदकर्ता से रहित है उसी प्रकार सभी काल वेदकर्ता से रहित होते हैं। अतः अतीत और भविष्य में भी वेद के कर्ता नहीं हो सकते।

आचार्य भावसेन के अनुसार यह अनुमान भी दोषपूर्ण है। विविध वैदिक ग्रंथों के कर्ता बोधायन, आपस्तम्ब, आश्वलायन, याज्ञवल्क्य आदि जिस काल में थे उसे वेदकर्ता से रहित कैसे कहा जा सकता है। जैसे महाभारत आदि ग्रंथों के रचयिता व्यास आदि ऋषि थे। उसी प्रकार विविध वैदिक ग्रंथों के रचयिता आपस्तम्ब आदि ऋषि थे। अतः इन दोनों में फर्क करना ठीक नहीं है। महाभारत आदि ग्रंथों के अंत में ग्रंथकार के नाम पाए जाते हैं। वैसे वैदिक ग्रन्थों के अंत में नहीं पाए जाते। अतः उन ग्रंथों का कोई कर्ता नहीं यह कहना भी उचित नहीं। क्योंकि एक तो कई वैदिक ग्रंथों में कर्ता का नाम पाया जाता है– जैसे कि बौधायन कल्पसूत्र में "वह नारायण में प्रवेश करता है ऐसा भगवान बौधायन ने कहा है" यह उल्लेख है। द्वितीय, मात्र नाम न मिलने से कोई ग्रंथ कर्ता से रहित नहीं हो जाता – वर्तमान में भी कुछ कवि अपना नाम लिखे बिना ग्रंथ रचना करते है किंतु इतने से उनके ग्रंथ अपौरुषेय नहीं हो सकते।

२. वेदकर्ता के सूचक वैदिक वाक्य :– मीमांसा के अनुसार जिस प्रकार आकाश के कर्ता का किसी प्रमाण से ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार वेद के कर्ता का भी किसी प्रमाण से ज्ञान नहीं होता। अतः वेद का कोई कर्ता नहीं है।

आचार्य भावसेन के अनुसार उपरोक्त तर्क उचित नहीं है। वेद के कर्ता के विषय में वैदिक ग्रंथों के ही आगम प्रमाण मिलते हैं। जैसे कि कहा है– "उस समय दिन नहीं था, रात भी नहीं थी, सिर्फ एक प्रजापति था, उसने तप किया, उसके तप करने से

चार वेद उत्पन्न हुए।'' इस पर मीमांसकों का मत है कि वेद के विधिवाद तथा अर्थवाद नामक दो भाग किये जा सकते हैं। इनमें मुख्य भाग विधिवाद है। विधायक वाक्य हमें किसी कर्म को करने का या न करने का आदेश देते हैं। इस प्रकार विधिवाद कर्मपरक आदेश देता हैं (अभिहितान्वयवाद)। अर्थवाद या सिद्धार्थवाक्य वर्णनात्मक हैं जो हमें सत्य पदार्थों का ज्ञान कराते हैं। प्रभाकर के अनुसार अर्थवाद भी कर्म का सहायक बनकर ही प्रामाणिक हो सकता है (अन्विताभिधानवाद)।[६]

जैन आचार्य के अनुसार मीमांसकों का मत है कि विधायक वाक्य तो प्रमाण है किन्तु सिद्धार्थ वाक्य प्रमाण नहीं है, उचित नहीं हैं क्योंकि आगम में ऐसा भेद करना अनुचित है जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण कार्य और सिद्ध दोनों अर्थों में प्रमाण होता है, वैसे ही सभी प्रमाण होते हैं। अत: आगम को भी कार्य और सिद्ध (विधायक और सिद्धार्थ) दोनों विषयों में प्रमाण मानना चाहिए।

इस पर मीमांसकों का आक्षेप है कि आगम प्रमाण शब्द पर आश्रित है और शब्द अपने कार्यपरक अर्थ या विधायक वाक्य के रूप में नियत है। अत: आगम विधायक वाक्य या कार्यविषय में ही प्रमाण है। प्रत्यक्ष प्रमाण शब्दों पर आश्रित नहीं है अत: उसमें ऐसी मर्यादा नहीं है।

आचार्य भावसेन के अनुसार उपरोक्त तर्क उचित नहीं है क्योंकि प्रथम तो, शब्द कार्यपरक अर्थ (विधायक वाक्य) में ही नियत होते हैं ऐसा कोई नियम नहीं है- सिद्धार्थ वाक्यों के लिये भी शब्दों का प्रयोग होता है।[७] द्वितीय, आगम को विधायक वाक्य में ही प्रमाण मानकर भी उपर्युक्त आगमवाक्य का स्पष्टीकरण हो सकता है- यह कहा जा सकता है कि 'प्रजापति वेद के कर्ता हैं अत: उनकी आराधना करनी चाहिए।'

मीमांसकों का मत है कि वेदों में जो क्रिया पद है उनसे वही अदृष्ट अर्थ व्यक्त होता है जिसका ज्ञान अन्य प्रमाणों से नहीं होता।

जैनाचार्य के अनुसार जैसे सब शब्द दृष्ट तथा अदृष्ट दोनों विषयों में प्रयुक्त होते हैं वैसे ही वेद के शब्द प्रयुक्त हुए हैं। अत: ऐसा नियम बनाना कि वे अदृष्ट विषय को ही व्यक्त करते है, उचित नहीं है। इस विषय में पूर्ववर्ती आचार्य ने कहा है- ''यदि अदृष्ट को आगम से भिन्न प्रमाण का विषय मानते हैं तो वह अपूर्व विषय नहीं रहेगा। किन्तु अन्य प्रमाणों से अदृष्ट का ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार शब्दों द्वारा इसका वर्णन संभव नहीं होगा।'' अत: वेद प्रतिपादित विषयों का ज्ञान अन्य प्रमाणों से भी होता है

तथा वेद के क्रियापद या विधायक वाक्य अदृष्ट से भिन्न अन्य पदार्थों का भी वर्णन करते हैं, यह स्वीकार करना चाहिए। तदनुसार 'प्रजापति से वेद उत्पन्न हुए' इस वेदवाक्य से ही वेद के कर्ता का अस्तित्व स्पष्ट होता है।

मीमांसकों का कथन है कि सिद्धार्थ वाक्य प्रमिति को उत्पन्न नहीं करते अत: ये वाक्य प्रमाण नहीं होते। आचार्य भावसेन के अनुसार यह उचित नहीं है। सिद्धार्थ वाक्य को सुनकर अर्थ की प्रतीति तो होती ही हैं। यह कैसे कहा जा सकता है कि प्रमिति उत्पन्न नहीं होती।

मीमांसकों का उत्तर है कि सिद्धार्थ वाक्य से अर्थ तो प्रतीत होता है किंतु वह प्रतीति स्मरणरूप है। अत: यह प्रमाण नहीं है।

आचार्य भावसेन के अनुसार मीमांसकों का यह उत्तर भी अंतत: प्रतिकूल ही सिद्ध होता है। उनके कथनानुसार 'प्रजापति से वेद उत्पन्न हुए' इस प्रस्तुत वाक्य को स्मरणरूप मानें तो स्पष्ट है किसी को इसका अनुभव भी हुआ होगा क्योंकि अनुभव से उत्पन्न संस्कार से ही स्मरण होता है।[८] शालिकनाथ ने स्मृति के विषय में कहा भी है-

प्रमाणमनुभूतिः सा स्मृतेरन्या पुनः स्मृतिः।
पूर्वविज्ञानसंस्कारमात्रजं ज्ञानमुच्यते।।[९]

अर्थात् "अनुभूति प्रमाण होती है तथा वह स्मृति से भिन्न होती है। स्मृति वह ज्ञान है जो पहले के ज्ञान के संस्कार से उत्पन्न होता है।" अत: 'प्रजापति से वेद उत्पन्न हुए' इस वाक्य को स्मरणरूप मानने पर भी असत्य नहीं कहा जा सकता। तदनुरूप वेद अपौरूषेय नहीं हो सकते। वेद पौरुषेय हैं किंतु सर्वज्ञप्रणीत नहीं हैं अत: वे प्रमाणभूत नहीं है।

३. वेद बहुसम्मत नहीं हैं

वेदों के समर्थक मीमांसा आदि दर्शनों का मत है कि आयुर्वेद के समान वेद भी बहुत लोगों को मान्य है अत: वे प्रमाण हैं।

जैनाचार्य भावसेन के अनुसार सिर्फ बहुत लोगों को मान्य होना प्रमाणभूत होने का सूचक नहीं है। तरूष्क (मलेच्छ) लोगों के शास्त्र भी बहुत लोगों को मान्य हैं किंतु उन्हें वेदानुयायी प्रमाण नहीं मानते। इसके प्रतिउत्तर में कहा जाता है कि साधारण लोगों की मान्यता से प्रमाणभूत होना व्यक्त नहीं होता- वेदों को ही विशिष्ट व्यक्तियों की मान्यता प्राप्त है अत: वह प्रमाण है। यहाँ प्रश्न है कि विशिष्ट

व्यक्ति किन्हें माना जाए? जो वेद का अनुसरण करते हैं वे विशिष्ट हैं, यह कहना परस्पराश्रय दोष होगा क्योंकि वेद प्रमाण हैं या नहीं, यही प्रस्तुत विवाद का विषय है।

यदि युक्तिवाद या तर्क का आश्रय लेने से विशिष्टता प्राप्त होती है तो यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि वेद को प्रमाण माननेवाले युक्तिवादी विशिष्टों में अत्यधिक विरोध क्यों पाया जाता है?

भाट्ट मीमांसक ग्यारह पदार्थ मानते हैं तथा प्रभाकर मीमांसक नौ पदार्थ मानते हैं। ये दोनों ईश्वर का तथा इन्द्र आदि देवताओं का अस्तित्व नहीं मानते। ये जगत् को नित्य मानते हैं- जगत की उत्पत्ति और प्रलय पर विश्वास नहीं करते, संसार को सत्य मानते हैं, जगत् की स्थिति हमेशा ऐसी ही रहती है जैसी इस समय हैं। वे आत्माओं की संख्या भी अनेक मानते हैं। वे जगत् की नित्यता में निम्न वेदवाक्य आधार के रूप में प्रस्तुत करते हैं-

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वते इमे।
ध्रुवं विश्वमिंद जगत् ध्रुवो राजा विशामयम्।।
ध्रुवं ते राजा वरूणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः।
ध्रुवं ते इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम्।।[१०]

अर्थात् 'यह आकाश तथा पृथ्वी, पर्वत तथा संपूर्ण जगत् ध्रुव है उसी प्रकार यह प्रजाओं का राजा भी ध्रुव रहें। राजा वरूण, देव बृहस्पति, इन्द्र तथा अग्नि तुम्हारे राज्य को ध्रुव बनाएँ।'

इसके विपरीत शांकरीय तथा भास्करीय वेदांती ईश्वर तथा देवताओं का अस्तित्व मानते हैं तथा जगत् की उत्पत्ति तथा प्रलय मानते हैं, आत्मा एक ही मानते हैं तथा संसार को मिथ्या कहते हैं। इनके प्रमाणभूत वेदवाक्य निम्न हैं -

सर्वं खल्विंद ब्रह्म नेह नानस्ति किंचन।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कंचन।।[११]

'यह सब ब्रह्म ही है, यहाँ नाना कुछ नहीं है, सब उसके प्रभाव को देखते हैं, उसे कोई नहीं देखता।' इनमें भी परस्पर मतभेद हैं - शांकरीय तो सिर्फ अभेद ही मानते हैं, भास्करीय ब्रह्म और प्रपंच में भेदाभेद मानते हैं।

नैयायिक सोलह पदार्थ मानते हैं और वैशेषिक छह पदार्थ मानते हैं। ये दोनों जगत् की उत्पत्ति और प्रलय मानते हैं, ईश्वर और देवताओं का अस्तित्व मानते हैं, प्रपंच सत्य मानते हैं तथा आत्माओं की संख्या अनेक मानते हैं। इनके प्रमाणभूत वेदवाक्य

ये हैं -

विश्वतश्चक्षुरूत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरूत विश्वत:पात्।
शं बाहुभ्यां धमति संपतत्रै द्यावाभूमी जनयन् देव एक:।।[१२]

'यह एक देव है जो पृथ्वी और आकाश को उत्पन्न करता है, इसकी आँखें सर्वत्र हैं, इसके मुख, बाहु और पैर सर्वत्र हैं तथा यह अपने बाहुओं से कल्याण का निर्माण करता है।'

सेश्वरसांख्य दर्शन के अनुयायी भी ईश्वर व देवताओं को तथा सृष्टि और संहार को मानते हैं तथा आधार के रूप में ये वेदवाक्य प्रस्तुत करते हैं -

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य: कृत:।
उरू तदस्य यद् वैश्य: पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।
चन्द्रमा मनसो जात: चक्षु सूर्योऽजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद् वायुरजायत।।[१३]

''उस (सर्वव्यापी पुरूष) का मुख ही ब्राह्मण थे, क्षत्रिय उसके बाहु थे, वैश्य उसकी जंघाएँ थे। तथा शूद्र उसके पैरों से उत्पन्न हुए थे। उसके मन से चन्द्रमा, आँखों से सूर्य, मुख से इन्द्र तथा अग्नि एवं श्वास से वायु उत्पन्न हुआ था।''

निरीश्वर सांख्य दार्शनिक ईश्वरादि देवताओं को नहीं मानते, आत्मा को भोक्ता मानते हैं, किन्तु कर्ता नहीं मानते, आत्मा को ज्ञान से रहित, सर्वदा शुद्ध मानते हैं। इनके मत में जगत् की सृष्टि तथा संहार का क्रम इस प्रकार है- 'प्रकृति से महत्, उस से अहंकार, उस से सोलह तत्त्वों का समुदाय तथा उन सोलह में से पाँच तन्मात्राओं से पंचमहाभूत आविर्भूत होते हैं।'

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गुणश्च षोडशक:।
तस्मादपि षोडशकात् पंचभ्य: पंचभूतानि।।[१४]

इस प्रकार वैदिक दर्शनों में परस्पर विरोध इतना प्रबल है कि उन सब को युक्तिवादी या तर्कसंगत कहना संभव नहीं। इसलिए युक्तिवादी बहुमत वेद को प्रमाण मानता है यह कहना भी व्यर्थ होता है। वेदों के बहुसम्मत होने में आयुर्वेद का जो उदाहरण दिया है वह भी निरूपयोगी है क्योंकि आयुर्वेद कोई पूर्ण प्रमाण नहीं है, यदि वह पूर्ण प्रमाण होता तो उस से नियमपूर्वक सब व्याधियाँ दूर होती किंतु ऐसा नहीं है। अत: वेदों की प्रमाणता में आयुर्वेद का उदाहरण व्यर्थ है।

४. वेद सदोष हैं :-

मीमांसकों का कथन है कि जिस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्त पुरूष का वचन निर्दोष कारणों से उत्पन्न होने पर प्रमाण होते हैं, उसी प्रकार वेदवाक्यों की प्रेरणा भी प्रमाण है क्योंकि वह निर्दोष कारणों से उत्पन्न होती है।

आचार्य भावसेन के अनुसार यह उचित नहीं है। वेद सर्वज्ञप्रणीत नहीं हैं अत: वे दोषरहित नहीं हो सकते और इसीलिए प्रमाण भी नहीं हो सकते। वेद अपौरूषेय हैं अत: निर्दोष हैं यह कथन भी उचित नहीं क्योंकि वेद अपौरूषेय नहीं हो सकते।

वेदवाक्य प्रमाण हैं क्योंकि आयुर्वेद के समान वेदवाक्य भी अन्य प्रमाणों से वाधित नहीं होते। मीमांसकों का यह अनुमान भी उचित नहीं है। "आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ" आदि वेदवाक्यों को नैयायिक बाधित मानते हैं। "उसके चक्षु सर्वत्र हैं" आदि वेदवाक्यों को वेदान्ती बाधित मानते हैं। मीमांसक इन दोनों को गलत कहते हैं। कुछ वाक्य तो सब को अमान्य होने जैसे हैं, उदाहरण के लिए- तूंबी डूबती है, पत्थर तैरते हैं, अंधे ने मणि को बींधा, देवों की गायें उल्टी बहती हैं, आदि। इन सब बाधाओं के होते हुए वेदवाक्यों को अबाधित कैसे कहा जा सकता है? इस अनुमान का उदाहरण भी सदोष है क्योंकि आयुर्वेद पूर्णत: अबाधित नहीं है क्योंकि उससे सब व्याधियाँ दूर नहीं होती। अत: अबाधित होने से वेद प्रमाण है यह कथन निरर्थक है।

५. वेद पौरुषेय हैं :-

वेद पौरुषेय हैं क्योंकि वे वाक्यों में निंबद्ध हैं तथा वाक्य पौरुषेय ही होते हैं। वेद त्रिष्टुप्, अनुष्टुप आदि छंदों में हैं। अत: वे वाक्य नहीं है, कहना उचित नहीं क्योंकि छंदोबद्ध अथवा अबद्ध दोनों प्रकार के शब्द समूहों को वाक्य कहते हैं। अमरकोश में कहा भी है -

सुप्तिडतोचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता।[५]

'विभक्ति तथा क्रिया के प्रत्ययों से युक्त शब्दों का समूह वाक्य कहलाता है, अथवा कारक से युक्त क्रिया को वाक्य कहते हैं।' 'वेदों में वाक्य तो हैं किन्तु उनके कर्ता का स्मरण नहीं है अत: वे वाक्य पौरुषेय नहीं हैं। यह कथन भी संभव नहीं है। जिसके कर्ता का स्मरण नहीं वह अपौरुषेय है, यह कोई नियम नहीं है।

यदि यह कहें कि जिन वाक्यों के विषय में 'ये कृत हैं' ऐसा ज्ञान होता है वे ही वाक्य पौरुषषेय हैं तो इससे भी वेदवाक्य पौरुषेय ही सिद्ध होते हैं क्योंकि वेद-

वाक्यों के विषय में भी 'ये कृत हैं' यह ज्ञान होता ही है।

जिन वाक्यों की रचना शक्य हो वे ही पौरुषेय होते हैं। यह नियम वैसा ही है। वेदवाक्यों की रचना भी शक्य है अतः इस नियम के अनुसार उन्हें पौरुषेय कहना चाहिए जो वाक्य अतीन्द्रिय विषयों का वर्णन करते हैं उनकी रचना पुरुषों द्वारा शक्य नहीं, उचित नहीं है। पिटकत्रय अतीन्द्रिय विषयों का वर्णन करते हैं किन्तु उनकी रचना पुरुषों द्वारा ही हुई है।

''वेदों में समार्थ्ययुक्त मंत्र है अतः वेद प्रमाण हैं, यह कथन उपयुक्त नहीं है। सामर्थ्ययुक्त मंत्र पिटकत्रय में भी हैं फिर मीमांसक उनको प्रमाण क्यों नहीं मानते? त्रिपटक में वेदों से ही मंत्र लिये गए हैं, यह कहना भी संभव नहीं क्योंकि वेद संस्कृत में हैं और त्रिपटक प्राकृत भाषा में हैं।

वेद पौरुषेय हैं यह सिद्ध करने का सशक्त प्रमाण यह है कि वेदों में राजर्षियों की चरित-कथाएँ पाई जाती हैं। वेदमंत्रों के मुख्य चार प्रकार हैं- विधि, मंत्र, अर्थवाद तथा पुरातन कथावर्णन। विधि वह है जिसमें अज्ञात वस्तु की जानकारी दी जाती है, जैसे- संध्या की उपासना करनी चाहिए, अग्निहोत्र का हवन करना चाहिए। मंत्र अनुष्ठान में उपयुक्त वाक्य हैं, जैसे - (अग्नये स्वाहा) 'अग्नि को अर्पण हो', (अग्ने इदं न मम) 'यह अग्नि का है, मेरा नहीं।' अर्थवाद अनुष्ठान की स्तुति करने वाले वाक्य हैं, जैसे- पुण्य करने वाले लोग मृत्यु के बाद उस स्थान में जाते है जहाँ गर्मी नहीं होती, भूख नहीं होती, ग्लानि नहीं होती, सब पर जय प्राप्त होती है। पुरातन कथा का उदाहरण- देव-असुर संग्राम कथा, जिसमे देवों की विजय हुई। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वेदों में राजर्षियों की चरित-कथाएँ है। अतः वेद पौरुषेय सिद्ध होते हैं।

वेद में विश्वामित्र, जनक, जनमेजय आदि जो नाम पाए जाते हैं वे विशिष्ट देश और काल में विद्यमान व्यक्तियों के हैं, गौ, अश्व आदि जाति- नामों से तथा दण्डधारी, छत्रधारी आदि उपाधिसूचक नामों से ये नाम भिन्न हैं। कादम्बरी, चित्रलेखा आदि नामों के समान इन नामों का प्रयोग भी पुरुषकृत संकेत पर अवलम्बित है। अतः वेदों में इनका पाया जाना वेद पुरुषकृत होने का स्पष्ट प्रमाण हैं। तथा 'इष तथा उर्ज में अंगिरस' आादि नाम भी संकेत सिद्ध हैं। भट्टि, चाणक्य आदि नामों के समान अंगिरस आदि नाम भी नियत व्यक्ति का वाचक है तथा जाति व उपाधि से भिन्न है अतः पुरुषकृत संकेत द्वारा ही इसका प्रयोग संभव है। वेदों के मंत्र त्रिष्टुप्, अनुष्टुप आदि छंदों मे निबद्ध हैं तथा छंदों के समूह हैं अतः महाभारत आदि के समान वेद भी

पुरुषकृत ही सिद्ध होते हैं।

६. शब्द के नित्यत्व का निषेध

मीमांसकों का कथन है कि शब्द नित्य है अतः शब्दसमुहरूप वेद भी नित्य है। आचार्य भावसेन के अनुसार शब्द ही नित्य नहीं अतः वेद भी नित्य नहीं है। 'शब्द सुना जाता है अतः यह नित्य है' यह अनुमान उचित नहीं क्योंकि उदात्त, अनुनासिक आदि ध्वनि भी सुने जाते हैं किंतु वे नित्य नहीं हैं। मीमांसकों के अनुसार 'यह वही आकाश है' इसके समान 'यह वही शब्द हैं' ऐसा ज्ञान होता है, अतः शब्द नित्य है। यह अनुमान भी ठीक नहीं। शरीर की विशिष्ट क्रियाएँ- नृत्य की मुद्रां आदि- दुहराई जाती हैं तब उनमें भी प्रत्यभिज्ञान होता है- 'यह वही मुद्राएँ है' ऐसा ज्ञान होता है किंतु ये मुद्राएँ नित्य नहीं होती। मुद्राएँ अनित्य हैं अतः उनमें प्रत्यभिज्ञान भ्रमजनित है किंतु शब्द के विषय में प्रत्यभिज्ञान भ्रमरहित है क्योंकि शब्द नित्य है। आचार्य भावसेन के अनुसार शब्द नित्य है या नहीं यही जब विवाद का विषय है तब "शब्द नित्य है अतः उसका प्रत्यभिज्ञान भ्रमरहित है" यह कहना कैसे संभव है? इसमें अन्योन्याश्रय भ्रमरहित है यह कहना कैसे संभव है? इसमें अन्योन्याश्रय दोष होगा। अतः शब्द को नित्य सिद्ध करने के लिए किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता है।

"शब्द आकाश के समान अमूर्त है, अतः नित्य है", यह अनुमान भी उचित नहीं। क्रियाएँ अमूर्त होती हैं किंतु नित्य नहीं होती। इस दोष को दूर करने के लिए इसी अनुमान का रूपान्तरण करते हैं- "शब्द अमूर्त द्रव्य है, अतः नित्य है।" किंतु यह सदोष है। नैयायिकों के अनुसार शब्द गुण है, द्रव्य नहीं; दूसरी ओर जैन मतानुसार शब्द द्रव्य तो है किंतु मूर्त है- अतः शब्द अमूर्त द्रव्य है, यह कथन विवादस्पद है। शब्द के मूर्त होने का प्रमाण यह है कि वह स्पर्शयुक्त है। कांसे के पात्र पर शब्द का आघात होने पर वैसे ही नाद उत्पन्न होता है जैसे किसी कोण (वीणा बजाने का दण्ड) के आघात से उत्पन्न होती है। निसानादि वाद्यों के प्रचण्ड नाद से तथा पैदल सेना के पदाघात के नाद से प्रासाद गिरते हुए देखे गए हैं। इन सभी उदाहरणों से शब्द का स्पर्शयुक्त तथा मूर्त होना स्पष्ट है।

"शब्द आकाश का गुण है, अतः आकाश की व्यापकता के समान शब्द भी नित्य है।"आचार्य भावसेन के अनुसार यह कथन युक्तियुक्त नहीं क्योंकि शब्द आकाश का गुण नहीं है। आकाश के गुण बाह्य इन्द्रियों से ज्ञात होता है। अतः शब्द आकाश का गुण नहीं हो सकता।

आचार्य भावसेन के मतानुसार शब्द ऐसा भावरूप पदार्थ है जो कृतक है। अत: विद्युत आदि के समान शब्द भी अनित्य है। बोलने की इच्छा होने पर पुरुष के प्रयत्न से तालु, जीभ आदि की क्रिया से शब्द निर्माण होता है। अत: शब्द को कृत कहा गया है।

इसके विरोध में प्रतिपक्षियों का मत है कि तालु आदि की क्रिया शब्द को सिर्फ व्यक्त करती है- उत्पन्न नहीं करती।

उपरोक्त कथन उचित नहीं है। तालु आदि की क्रिया में और शब्द में नियत अन्वयव्यतिरेक संबंध पाया जाता है- क्रिया हो तो शब्द उत्पन्न होता है, क्रिया न हो तो शब्द उत्पन्न नहीं होता है। अत: तालु आदि की क्रिया को शब्द का उत्पादक ही मानना चाहिए व्यक्त होने वाली और व्यक्त करने वाली वस्तुओं में नियत अन्वयव्यतिरेक नहीं पाया जाता- 'दीपक हो तो घर है, दीपक नहीं हो तो घर नहीं होता' यह कहना संभव नहीं है।

शब्द नित्य और सर्वगत है अत: तालु आदि की क्रिया होने पर नियमत: शब्द व्यक्त होता है। यह कहना भी उचित नहीं। शब्द नित्य नहीं तथा शब्द सर्वगत भी नहीं है क्योंकि वह बाह्य इन्द्रियों से ज्ञात होता है। इस प्रकार शब्द की अनित्यता स्पष्ट होती है। तदनुसार शब्दसमुह रूप वेद भी पौरूषेय व अनित्य सिद्ध होते हैं। अत: वेद अपौरूषेय अतएव प्रमाण है। यह कहना उचित नहीं हैं।

७. वेदों का बाधित विषयत्व

आचार्य भावसेन के मतानुसार वेद अप्रमाण है क्योंकि वे आप्त पुरूष-सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत नहीं है। इसके मत के प्रतिपक्षी आक्षेप करते है कि मीमांसकमतानुसार वेद सर्वज्ञप्रणीत न हो, किंतु नैयायिक मतानुसार तो वेद सर्वज्ञ- ईश्वरप्रणीत हैं। इसके समर्थन में कथन है-

अनन्तरं तु वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृता:।
प्रतिमन्वन्तरं चैव श्रुतिरन्या विधीयते।।

"तदन्तर ईश्वर के मुखों से वेद निकले। इस प्रकार प्रत्येक मन्वन्तर मे भिन्न-भिन्न वेद की उत्पत्ति होती है।" आचार्य के अनुसार ईश्वर सर्वज्ञ नहीं हो सकता। अत: ईश्वर प्रणीत होने पर भी वेद प्रमाण नहीं हो सकते। वेद के अप्रमाण होने का एक यह भी कारण है कि उसका कथन प्रमाणबधित है। वेदवाक्यों के विभिन्न वैदिक दर्शन बाधित समझते हैं। वेदवाक्यों में परस्पर विरोध भी है जैसे

सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिपृष्ठद दशाङ्गुलम्।।[१६]

"उस पुरुष के हजार सिर थे, हजार आँखे थी, हजार पैर थे, वह भूमि को सब ओर से घेरकर दस अँगुल अधिक रहा।" उपरोक्त वाक्य के विरोध में निम्न सूत्र है-

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेति विश्वं न हि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरूषं महान्तम्।।[१७]

'अग्रणी महान पुरुष वह है जिसके हाथ-पैर नहीं हैं किंतु जो वेगवान है, आँखे न होने पर भी जो देखता है, कान न होते हुए भी जो सुनता है तथा जो सब जानता है किंतु उसे कोई नहीं जानता।' यह वाक्य भी है।

इस विरोध के समाधान के लिए कहा जाता है कि ईश्वर तो सदा मुक्त है किंतु भक्तों के अनुग्रह के लिए शरीर धारण करता है। अतः ये दोनों वर्णन दो अवस्थाओं के लिए हैं। आचार्य भावसेन के अनुसार यह समाधान उपयुक्त नहीं है। जो मुक्त है वह सदाचार-दुराचार से रहित होता है अतः उसके कोई अदृष्ट (पुण्य-पाप) नहीं होता तथा अदृष्ट के बिना शरीर धारण करना संभव नहीं है। अतः ईश्वर मुक्त है तथा शरीर धारण करता है। ये कथन स्पष्टतः परस्पर विरुद्ध है।

वेदवाक्यों के परस्पर विरोध का एक उदाहरण और है-

'तरति शोकं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेघेन यजते य उ चैनमेवं वेद।'

अर्थात् 'जो अश्वमेघ यज्ञ करता है उसका शोक-पाप दूर होता है, उसे ब्रह्महत्या के पाप से छुटकारा मिलता है। जो इस प्रकार जानता है उसे भी यही फल मिलता है।' इस प्रकार यहाँ अत्याधिक व्यय तथा प्रयास से होने वाले यज्ञ का फल तथा उस यज्ञ का जानने मात्र का फल समान कहा गया है जो असंभव है।

वेद के ज्ञान की महिमा निरूक्त में भी कही है-

'स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
अर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।।[१८]

अर्थात् "जो वेद को कण्ठस्थ करता है किंतु उसका अर्थ नहीं जानता वह सिर्फ बोझा ढोनेवाले खंभे के समान जड़ है, जो उस अर्थ को जानता है वह सब मंगल प्राप्त करता है तथा ज्ञान से पाप को दूर कर स्वर्ग प्राप्त करता है।"

इस प्रकार यदि वेद ज्ञाता को ब्रह्महत्या से छुटकारा मिलने की बात सही है तो उसे ब्रह्महत्या का प्रायश्चित करना आवश्यक नहीं होगा। किंतु इसके विरुद्ध वैदिक

ग्रंथों में कहा गया है कि अश्वत्थामा को ब्रह्महत्या की सिर्फ शंका होने पर भी बड़ा प्रायश्चित दिया गया। अश्वत्थामा को रूद्र का अवतार कहा गया है अत: वह वेद जानता होगा इसमें संदेह नहीं। उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि ज्ञान से पाप दूर नहीं होते।

मीमांसक उत्तर देते हैं कि यज्ञ के जानने से यह फल प्राप्त होता है। यह कथन अर्थवाद या सिद्धार्थवाक्य है-प्रशंसा के लिये कहा है, अक्षरश: सत्य नहीं है। किन्तु ऐसा मानने पर यज्ञ करने का फल भी अक्षरश: सत्य है इसका निश्चय कैसे होगा? अत: इस पूरे कथन में परस्पर विरोध दूर नहीं किया जा सकता।

८. वेदों में हिंसा का विधान:-

वेद इस लिये भी अप्रमाण है कि उनमें तुरूष्कों (म्लेछों) के समान ब्राह्मण आदि के बध करने का विधान है- कहा है- ''ब्रह्मा के लिये ब्राह्मण का वध करें, क्षत्र के लिये क्षत्रियं का, मरूतो के लिये वैश्य का, तप के लिये शूद्र का तथा तम के लिये चोर का वध करें।''

''ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत क्षत्राय राजन्यं मरूद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रं तमसे तस्करम् इत्यादिना ब्राह्मणादिवधविधानात्।''

उपरोक्त मंत्र में यह माना जाता है कि ब्राह्मण के वध का तात्पर्य ब्राह्मण को स्पर्श करना है। किन्तु यह स्पष्टत: गलत है। यदि वध का अर्थ स्पर्श करना हो तो 'ऐश्वर्य की इच्छा हो तो सफेद बकरे की बलि दे' यहाँ बकरे को स्पर्श करने से विधि पूर्ण क्यो नहीं होती?

विशिष्ट यज्ञों में ब्राह्मण आदि का वध भी पाप का कारण न होकर पुण्य का कारण होता है। यह कथन भी तार्किक नहीं। प्राणिवध यज्ञ में हो या अन्यत्र हो-वह पाप का ही कारण होता है। मीमांसको के अनुसार सभी वध पापकारण नहीं होते- जिनका शास्त्रों में निषेध है वे ही वध पापकारण होते हैं।

किन्तु उपरोक्त कथन उचित नहीं है। वैदिक ग्रंथों में पापकारण वध का भी विधान मिलता है, उदाहरणार्थ- अभिचार से शत्रु का वध करने के लिये श्येन के यज्ञ का विधान है। यहाँ श्येन का वध पापकारण होते हुये भी विहित है- निशिद्ध नहीं। अत: जो निशिद्ध है वे ही वध पापकारण है यह कहना संभव नहीं है।

दूसरा किसी अनुमान में इस प्रकार उपाधि बताकर दोष निकालना योग्य नहीं-यह दूषणाभास है जिसका अंतर्भाव उत्कर्षसम, अपकर्षसम या संशयसम जाति में होता है।

अत: यज्ञ में अंतर्भूत हिंसा भी पाप का कारण होती है। उसे ही वेदों में स्वर्ग का साधन माना गया है इसलिए वेद अप्रमाण है। वेद ही प्रमाण नहीं है तो उन पर आधारित वेदांग, स्मृति, पुराण आदि प्रमाण कैसे हो सकते हैं? इसलिए चार वेद, छः वेदांग, पुराण, न्याय, मीमांसा एवं धर्मशास्त्र ये चौदह स्थान जिन्हे याज्ञवल्क्य स्मृति में प्रमाण माना है, प्रमाण प्रतीत नहीं होते।

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥[19]

९. वेदों के स्वतः प्रामाण्य का निषेध

मीमांसकों का कथन है कि मिथ्या ज्ञान से या दूषित अभिप्राय से किसी वक्ता द्वारा कहा हुआ वचन अप्रमाण होता है किन्तु वेद ऐसे किसी दूषित वक्ता द्वारा नहीं कहे गये है अतः वेद स्वयं प्रमाण हैं। कहा गया है–

शब्दे दोशाद्भवस्तावद् वक्त्रधीन इति स्थितः।
तदभावः कवचित् तावद् गुणवद्वक्तृकत्वतः॥
तद्गुणैरपद्भृष्टानां शब्दे संक्रान्त्यसंभवात्।
यद् वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः॥[20]

"शब्द में दोष की उत्पत्ति वक्ता के कारण होती है तथा वक्ता गुणवान हो तो शब्द निर्दोष होते हैं। गुणों के कारण दोष दूर हो जाने पर शब्द में दोष नहीं आ सकते। अथवा वक्ता ही न हो तो कोई दोष अपने आप उत्पन्न नहीं होता।"

इसके उत्तर में आचार्य ने पूर्व में ही स्पष्ट किया है कि वेद अपौरूषेय नहीं हो सकते। अतः उन्हें निर्दोष कैसे कहा जा सकता है? द्वितीय, किसी वचन की प्रमाणता स्वंयसिद्ध नहीं होती। सरल आशय तथा यथार्थ ज्ञान से युक्त पुरूष के ही वचन प्रमाण होते हैं। गुणों से दोष दूर होते हैं किंतु वचन स्वतः प्रमाण होते हैं यह कथन उचित नहीं हैं। प्रकाश अंधकार को दूर करता है, साथ ही रूप के ज्ञान में सहायक होता है। उसी प्रकार गुण दोषों को दूर करते हैं, साथ ही प्रामाण्य भी उत्पन्न करते हैं। अतः वक्ता के दोष से वचन अप्रमाण होता है, वक्ता के गुण से वचन प्रमाण होता है तथा दोनों अवस्थाओं में ज्ञान उत्पन्न करता है यह मानना चाहिए। इसी प्रकार अनुमान में पक्षधर्मता आदि गुण हों तो वह प्रमाण होता है, असिद्ध आदि दोष हो तो अप्रामाण होता है तथा दोनों अवस्थाओं में ज्ञान उत्पन्न करता है। तात्पर्य यह है कि वचन या अनुमान में प्रामाण्य की उत्पत्ति यथार्थ वक्ता अथवा पक्षधर्मता आदि गुणों

से ही होती है- स्वत: प्रामाण्य उत्पन्न नहीं होता।

प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय में भी यही तथ्य है- अंधकार, चक्षुदोष, दूर का अंतर, भ्रमण आदि से इन्द्रियों में दोष उत्पन्न हो जाते हैं, उनके कारण वह प्रत्यक्ष अप्रमाण होता है। इन्द्रियाँ निर्मल होना, समीपता, चित्त सुखी होना आदि गुणों से युक्त प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। तथा इन दोनों गुणों में ज्ञान साधारण है। इन्द्रियों का निर्मल होना, समीपता, चित्त सुखी होना आदि गुणों से युक्त प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। तथा इन दोनों गुणों में ज्ञान साधारण है। इन्द्रियों का निर्मल होना यह इन्द्रियों का स्वरूप ही है। अत: ज्ञान ओर प्रामाण्य का एक ही सामग्री से उत्पन्न होते हैं यह कथन ठीक नहीं। इन्द्रियों की निर्मलता स्वाभाविक होने पर भी गुण है- उसी प्रकार जैसे दुराचार का अभाव ही सदाचाररूपी गुण है। इस गुण से ही प्रामाण्य उत्पन्न होता है- सिर्फ ज्ञान से उत्पन्न नहीं होता। अत: प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वत: नहीं परत: मानना ही उचित है।

अप्रमाण ज्ञान पाप का फल है तथा प्रमाणभूत ज्ञान पुण्य का फल है- यह भी प्रामाण्य के स्वत: उत्पन्न होने में बाधक है। ज्ञान और उसका प्रामाण्य ये जल और अग्नि के समान भिन्न कार्य है अत: उनका कारण भी भिन्न होना चाहिए। ज्ञान और प्रामाण्य के भिन्न कहने का कारण यह है कि कहीं कहीं ज्ञान तो विद्यमान् होता है, किंतु प्रामाण्य नहीं होता। जिस प्रकार अप्रामाण्य ज्ञान की एक विशेषता है उसी प्रकार प्रमाण्य भी ज्ञान की एक विशेषता है। अत: अप्रामाण्य के समान प्रामाण्य की उत्पत्ति का कारण भी ज्ञान की उत्पत्ति के कारण से भिन्न होता है। प्रामाण्य और ज्ञान एक ही है यह कहना तो संभव नहीं है क्योंकि प्रामाण्य न होने पर भी ज्ञान विद्यमान् होता है। अत: ज्ञान और प्रामाण्य की उत्पत्ति भिन्न कारणों से होती है। इसलिए प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वत: न मानकर परत: माननी चाहिए। अप्रामाण्य की उत्पत्ति भी परत: मानना उचित है।

आचार्य भावसेन प्रामाण्यवाद की समीक्षा का परीक्षण

मीमांसकों ने वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध करने तथा पौरुषेयता के खंडन- शब्द, अर्थ, शब्दार्थ संबंध वाक्य तथा वाक्यार्थ के माध्यम से किया है।

सर्वप्रथम आक्षेप है कि सभी शब्दों की उत्पति पुरुष से हुई है, अत: शब्द-समूह रूप वेद भी पौरुषेय है। मीमांसकों के अनुसार यह उचित नहीं है। शब्द नित्य हैं।

नित्यस्तु स्याद् दर्शनस्य परार्थत्वात्[११]

'सभी शब्द नित्य है, क्योंकि उनका उच्चारण इसलिए किया जाता हैं कि श्रोता के कान तक पहुँच कर वक्ता का तात्पर्य बतला सके। यदि शब्द अस्थिर होंगे तो मध्य में ही नष्ट हो जाएंगे, संसार का व्यवहार ही लुप्त हो जाएगा। अत: मानना होगा कि शब्दत्व नित्य है। पुरुष की उत्पत्ति से पूर्व ही वर्तमान था।

जैनाचार्य का मत है कि शब्दों के अर्थ-घट, पट आदि भी नित्य नहीं हो सकते। वे तो निसंदेह पुरुष द्वारा रचे गये हैं। अत: अर्थ पौरुषेय है।

मीमांसकों का मत है कि शब्द का अर्थ विशेष वस्तु नहीं अपितु सामान्य जाति होने के कारण नित्य है।

'सास्नादिविशिष्टाद्धतिरिति ब्रूम:'[२२]

मीमांसकों के अनुसार शब्द का अर्थ है जाति। जैसे गौ शब्द का गौत्व। शब्द का वाच्य अनित्य तथा परिणामी व्यक्ति-पदार्थ नहीं होता, अपितु नित्य सामान्य होता है। जो व्यक्तियों में अनुगत रहता है।

मीमांसकों के अनुसार शब्द और अर्थ का संबंध भी नित्य है। आलोचकों का मत है कि शब्द और अर्थ का संबंध स्थापित करना पुरुष का काम है। बिना संबंध स्थापित किए कोई भी शब्द किसी अर्थ को नहीं कह सकता। संबंध 'पौरुषेय है।

महर्षि जैमिनि के अनुसार शब्द और अर्थ का संबध नित्य है उसे अनित्य-पौरुषेय कहना मूर्खता होगा।

'औत्सर्गिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबंध'[२३]

यह शब्दार्थ संबंध न ईश्वर-संकेत से आता है और न रूढिगत वृद्ध-व्यवहार से। अत: यह नित्य है। जैमिनि के अनुसार वैदिक वाक्यों की रचना भी पौरुषेय नहीं है-

तदभूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तवात्[२४]

मीमांसा के अनुसार जब सभी शब्द, अर्थ, शब्दार्थ संबंध नित्य है, तो फिर सभी साहित्यिक या सार्थक ग्रंथ नित्य हो जाएंगे। तब मात्र वेद को ही नित्य मानने का क्या कारण है? मीमांसकों के अनुसार अन्य ग्रंथों या प्रबंधों में या भाषणों में शब्दों के प्रयोग का क्रम या आनुपूर्वी रचियता या वक्ता के ऊपर निर्भर रहती है, अत: ग्रंथों आदि का भेद प्रसिद्ध है। इसलिए ये ग्रंथादि पौरुषेय होते हैं। और इनमें संशय विपर्यय आदि दोषों की संभावना रहती है। किंतु वेद अपौरुषेय हैं, और उनमें शब्दों का क्रम या आनुपूर्वी भी नित्य तथा स्वत: निर्धारित है। अत: वेद की नित्यता, अपौरुषेयता और स्वत: प्रामाण्य स्वत: सिद्ध है।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. दासगुप्त एस.एन., भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-१
२. आचार्य भावसेन त्रैविध, संपादक प्रो. विद्याधर जोहरापुरकर, 'विश्वतत्त्वप्रकाश', पृ. ७३
३. मीमांसाश्लोकवार्तिक, पृ. १४९
४. स्याद्वादसिद्धि, १०-३०
५. तत्त्वसंग्रह, पृ. ६४३
६. शर्मा, चन्द्रधर, भारतीय दर्शन- आलोचन एवं अनुशीलन, पृ, १९७
७. आचार्य भावसेन त्रैविध, संपा. प्रो. विद्याधर जोहरापुरकर, 'विश्वतत्त्वप्रकाश', पृ. ७८
८. आचार्य भावसेन त्रैविध, संपादक प्रो. विद्याधर जोहरापुरकर, 'विश्वतत्त्वप्रकाश', पृ. ८०
९. प्रकरणपंचिका, २-६
१०. ऋग्वेद, १०-१७३-४,५
११. छांदोग्योपनिषद्, ३-१४-१
१२. श्वेताश्वतरोपनिषद्, ३-३
१३. ऋग्वेद, १०-९०-११, १२
१४. सांख्यकारिका, २२
१५. अमरकोष, अमरसिंह, १-६-२
१६. ऋग्वेद, १०-९०-१
१७. श्वेताश्वतरोपनिषद्, ३-९१
१८. निरूक्त, १-१७
१९. याज्ञवल्क्यस्मृति, १-१-३
२०. मीमांसाश्लोकवार्तिक, पृ. ६५
२१. जैमिनिसूत्र, १-१-९५
२२. शबरभाष्य, १-१-५
२३. जैमिनिसूत्र, १-१-५
२४. जैमिनिसूत्र, १-१-२५

जैन दर्शन एवं योगवासिष्ठ में आध्यात्मिक विकास की भूमियाँ

मनोज कुमार तिवारी

साधना-पद्धति में आध्यात्मिक विकास या नैतिक विकास का अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। चाहे वह वैदिक पद्धति हो, अथवा अवैदिक, सभी में लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं को स्वीकार किया गया है। आध्यात्मिक विकास को व्यवहारिक रूप में चारित्रिक विकास की संज्ञा से विभूषित किया जा सकता है, क्योंकि चारित्र की विविध दशाओं के आधार पर ही आध्यात्मिक विकास की भूमिओं या अवस्थाओं का सहज रूप में अनुमान किया जाता है। जैन दर्शन में आध्यात्मिक पूर्णता अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति ही साधक का लक्ष्य माना गया है। आध्यात्मिक विकास का तात्पर्य ही होता है आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति। यदि हम पारिभाषिक रूप में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि आत्मा का स्वरूप में स्थित हो जाना ही आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति है। यही साधक का परम लक्ष्य भी है। साधक का स्व-स्वरूप में स्थित होने के लिए साधना की विभिन्न श्रेणियों से गुजरना पडता है। यद्यपि आत्मा का वास्तविक स्वरूप शुद्ध ज्ञानमय एवं सुखमय होता है।

मोक्ष प्राप्ति की उत्तम साधन क्या है, इस विषय पर मतभेद है लेकिन योगवासिष्ठ का स्पष्ट मत है कि ज्ञान के सिवाय मोक्ष का कोई उपाय नहीं है। वह ज्ञान केवल वाचिक ज्ञान नहीं है, न वह तर्कमात्र है। मुक्ति का अनुभव करने वाला ज्ञान आत्मा का अनुभव है और वह अनुभव वास्तविक होना चाहिए, केवल कथन मात्र नहीं। जीव को ब्रह्म दृष्टि प्राप्त करके, उसमें आरुढ होकर उस दृष्टि के अनुसार व्यवहार भी करना है। यदि हमारा जीवन हमारी उच्चत्तम दृष्टि के अनुसार नहीं है तो हमारा ज्ञान परिपक्व ज्ञान नहीं है। केवल वाद-विवाद और जीविका के लिए जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह ज्ञान ऐसा नहीं है जो मोक्ष पद को दिला सके। ज्ञानी वह है जिसका जीवन आध्यात्मिक जीवन हो। यदि जीवन को ऊँचा बनाने के लिए ज्ञान प्राप्त नहीं किया बल्कि केवल नाम, यश और जीविका आदि के लिए ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त किया है, तो ऐसे ज्ञानी को योगवासिष्ठ में ज्ञानी न कहकर 'ज्ञान बन्धु' कहा जाता है।

इस ज्ञान को पूर्णतया प्राप्त करने के लिये अभ्यास की आवश्यकता है। ज्ञान का

अभ्यास, क्रमशः होता है और उस क्रम का एक ही जीवन में आरम्भ और समाप्त होना भी साधारणतया सम्भव नहीं है। अतः ज्ञान को प्राप्त करने और उसको अभ्यास द्वारा सिद्ध करने में अनेक जन्म लग जाते हैं। कितने समय और कितने जन्मों में ज्ञान की सिद्धि और उससे जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होगी यह प्रत्येक व्यक्ति के अपने ही पुरुषार्थ पर निर्भर हैं। जिनमें अधिक लगन होती है और जो अधिक यत्न करते हैं, वे जल्द ही परम पद को प्राप्त कर लेते हैं। जब साधक को अत्यन्त तीव्र वैराग्य और तीव्र मुमुक्षा होती है तब उसे क्षणभर में मोक्ष का अनुभव हो जाता है। इसलिए मोक्ष की वासना होने और मोक्ष का अनुभव होने में कितने समय का अन्तर है, यह नहीं बताया जा सकता। ज्ञानी और विद्वान लो केवल इसी बात का निर्णय कर सकते हैं कि ज्ञान-मार्ग का क्रम क्या है, किन-किन सीढ़ियों पर चढ़कर ज्ञान की सिद्धि का इच्छुक अपने ध्येय पर पहुँच सकता है। ज्ञान के मार्ग पर जो-जो विशेष क्रमिक अवस्थाएँ आती है उनका नाम योगवासिष्ठ में भूमियाँ अथवा भूमिकायें हैं । जैन दर्शन में इनका नाम गुणस्थान रखा है, पातञ्जल योग में योग के अंग कहा है । जैनों के अनुसार चौदह गुणस्थान है, बौद्धों के अनुसार दस भूमियाँ हैं, पतञ्जलि के अनुसार योग के आठ अंग है। योगवासिष्ठ ने ज्ञान की सात भूमिकाएँ मानी है। हम यहाँ पर जैन दर्शन के चौदह गुणस्थानों एवं योगवासिष्ठ के भूमिकाओं का विवेचन करेंगे।

जैन परम्परा में आध्यात्मिक विकास क्रम की चौदह अवस्थाएँ मानी गयी हैं जो चौदह गुणस्थान के नाम से जाना जाता है। आत्मिक गुणों के विकास की क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं। गुणस्थान जैन चारित्र की चौदह सीढ़ियाँ हैं। साधक को इन्हीं सीढ़ियों से चढ़ना उतरना पड़ता है। आत्मा की विकास-प्रक्रिया में उत्थान-पतन का होना स्वाभाविक है। आत्मशक्ति की विकसित और अविकसित अवस्था को ही जैन परम्परा में गुणस्थान कहा गया है। चौदह गुणस्थान इस प्रकार है- (१) मिथ्यात्व (२) सास्वादन (३) मिश्रदृष्टि ४) अविरत सम्यक् दृष्टि (५) देश-विरति सम्यक् दृष्टि (६) प्रमत्तसंयत (७) अप्रमत्तसंयत (८) अपूर्वकरण (९) अनिवृत्तिकरण (१०) सूक्ष्मसम्पराय (११) उपशान्तमोह (१२) क्षीणमोह (१३) सयोग केवली (१४) अयोग केवली। प्रथम से चतुर्थ गुणस्थान तक का क्रम सम्यक् दर्शन की अवस्थाओं को प्रकट करता है, जबकि पाँचवे से बारहवें गुणस्थान तक का विकासक्रम सम्यक्चारित्र से सम्बन्धित है। तेरहवाँ एवं चौदहवाँ गुणस्थान आध्यात्मिक पूर्णता का द्योतक है।

१. मिथ्यात्व गुणस्थान – इस अवस्था में आत्मा यथार्थ ज्ञान और सत्यानुभूति से वंचित रहती है। यह आत्मा की अज्ञानमय अवस्था है। इसमें मोह की प्रबलतम स्थिति होने के कारण व्यक्ति की आध्यात्मिक स्थिति बिल्कुल गिरी हुई होती है, क्योंकि प्राणी यथार्थबोध के अभाव में बाह्य पदार्थों से सुखों की प्राप्ति की कामना करता है। मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में आत्मा एकान्तिक धारणाओं विपरीत धारणाओं, वैनयिकता (रुढ परम्पराओं), संशय और अज्ञान से युक्त रहती है।[१] जिसके कारण उसको यथार्थ दृष्टिकोण उसी प्रकार अरुचिकर लगता है जिस प्रकार ज्वर से पीड़ित व्यक्ति को भोजन।[२] वस्तुतः यह यथार्थ दृष्टिकोण या सत्य प्राप्त करने की वस्तु नहीं है, बल्कि वह सदैव अपने यथार्थ रूप में ही रहती है। हम एकान्तिक दृष्टिकोण या पाक्षिक व्यामोह के कारण उसे देख नहीं पाते हैं। अतः जब व्यक्ति एकान्तिक दृष्टिकोण का त्याग कर देता है तो यथार्थ दृष्टिकोणवाला कहलाने लगता है। जैसा कि पं. सुखलाल जी संघवी ने कहा है कि प्रथम गुणस्थान में रहनेवाली ऐसी अनेक आत्माएँ होती हैं, जो राग-द्वेष के तीव्रतम वेग को थोड़ा-सा दबाये हुए होती हैं। वे यद्यपि आध्यात्मिक लक्ष्य को प्रति सर्वदा अनुकूलगामी नहीं होती, तो भी उनका बोध व चारित्र अन्य अविकसित आत्माओं की अपेक्षा अच्छा ही होता है। यद्यपि ऐसी आत्माओं की अवस्था आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वथा आत्मोन्मुख न होने के कारण मिथ्यादृष्टि, विपरीत दृष्टि या असत्-दृष्टि कहलाती है, तथापि वे सत्-दृष्टि के समीप ले जानेवाली होने के कारण उपादेय मानी गयी है।[३] अतः कहा जा सकता है कि इस गुणस्थान का मुख्य लक्षण मिथ्यादर्शन है।

२. सास्वादन गुणस्थान- यद्यपि सास्वादन गुणस्थान क्रम की अपेक्षा से विकासशील कहा जा सकता है, लेकिन वस्तुतः यह गुणस्थान आत्मा की पतनोन्मुख अवस्था का द्योतक है। मिथ्यादृष्टि व्यक्ति को मोह का प्रभाव कम होने पर जब कुछ क्षणों के लिए सम्यक्त्व अर्थात् यथार्थता की अनुभूति होती है, तन ऐसी अवस्था में सम्यक्त्व का अति अल्पकालीन आस्वादन होता है, जिसके कारण इसे सास्वादन सम्यक्-दृष्टि के नाम से अभिहित किया जाता है। जिस प्रकार खाना खाने के बाद वमन होने पर वमित वस्तु का एक विशेष प्रकार का आस्वादन होता है, उसी प्रकार यथार्थ बोध हो जाने पर मोहासक्ति के कारण जब पुनः अयथार्थता का ग्रहण होता है तो उसे ग्रहण करने के पूर्व थोडे समय के लिए उस यथार्थता का एक विशिष्ट प्रकार का अनुभव बना रहता है। यही सास्वादन गुणस्थान कहलाता है। इस गुणस्थान में

कोई भी आत्मा प्रथम गुणस्थान की ओर जाती है तो इस द्वितीय गुणस्थान की अवस्था से गुजरती है। इसका काल अति अल्प होता है। जिस प्रकार फल का वृक्ष से टूटकर पृथ्वी पर पहुँचने में जो समय लगता है, उसी प्रकार आत्मा की गिरावट में जो समय लगता है वहीं समयावधि सास्वादन गुणस्थान के नाम से जानी जाती है।

३. मिश्र गुणस्थान – यह गुणस्थान आत्मा की वह अवस्था है आत्मा जिसमें न केवल सम्यक् दृष्टि होती है और न केवल मिथ्यादृष्टि। इस अवस्था में साधक सत्य-असत्य, शुभाशुभ में भेद नहीं कर पाने कारण अनिर्णय एवं अनिश्चय की स्थिति में रहता है। इस गुणस्थान में आत्मा प्रथम गुणस्थान से विकसित होकर नहीं आती हैं, बल्कि चतुर्थ गुणस्थान से पतित होकर प्रथम गुणस्थान को प्राप्त करने के लिए इस अवस्था से गुजरकर जाती है, परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि आत्माएँ तृतीय गुणस्थान में विकसित होकर आ नहीं सकतीं, बल्कि प्राप्त कर सकती हैं। जो आत्माएँ चतुर्थ गुणस्थान में यथार्थ का बोध करके पुनः पुनः पतित होकर प्रथम गुणस्थान को प्राप्त करती हैं, वे हीं आत्माएँ अपनी उत्क्रान्ति काल में प्रथम गुणस्थान से सीधे तृतीय गुणस्थान में आती हैं, लेकिन जिन आत्माओं ने कभी सम्यक्त्व का स्पर्श नहीं किया है, वे अपने विकास में प्रथम गुणस्थान से सीधे चतुर्थ गुणस्थान में आती हैं। इस प्रकार मिश्र गुणस्थान से सीधे चतुर्थ गुणस्थान में आती हैं। इस प्रकार मिश्र गुणस्थान जीवन के संघर्ष की अवस्था का द्योतक है। इस गुणस्थान की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि इस अवस्था में मृत्यु नहीं होती है। इस सन्दर्भ में आचार्य नेमीचन्द्र का कहना है कि मृत्यु उसी स्थिति में सम्भव होती है, जिसमें भावी आयुकर्म का बन्ध नहीं होता, अतः मृत्यु भी नहीं हो सकती।[४]

४. अविरत सम्यक्-दृष्टि गुणस्थान – इस अवस्था में साधक का यथार्थता का बोध हो जाता है। उसका दृष्टिकोण सम्यक् होता है, फिर भी उसका आचरण नैतिक नहीं होता। उसका ज्ञानात्मक पक्ष सम्यक् होने पर भी आचरणात्मक पक्ष असम्यक् होता है। वह अशुभ को मानता है, लेकिन अशुभ के आचरण से बच नहीं पाता। ऐसा इसलिए होता है कि इस अवस्था में वासनाओं को आंशिक रूप से क्षय किया जाता है और आंशिक रूप से दबाया जाता है। दबी हुई वासना पुनः प्रकट होकर आत्मा को अयथार्थता की ओर अग्रसर कर देती है। महाभारत में ऐसा चरित्र हमें भीष्म पितामह का मिलता है जो कौरवों के पक्ष को अन्याययुक्त, अनुचित और पाण्डवों के पक्ष को न्यायपूर्ण और उचित मानते हुए भी कौरवों के पक्ष में ही रहने को

विवश है। जैन विचार इसी को अविरत सम्यग्दृष्टित्व कहता है।

५. देशविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान - यह विकास की पाँचवी श्रेणी है, इस अवस्था में वासनाओं एवं कषायों पर आंशिक नियंत्रण की क्षमता का विकास होना शुरू हो जाता है जिसके कारण नैतिक आचरण की दृष्टि से यह प्रथम स्तर ही है। देशविरति का अर्थ है - वासनामय जीवन से आंशिक रूप से निवृत्ति। हिंसा, झूठ, परस्त्रीगमन आदि अशुभाचार तथा क्रोध, लोभ, मोहादि कषायों से आंशिक रूप से विरत होना ही देशविरति है। इस अवस्था का साधक साधना पथ पर फिसलता तो है लेकिन उसमें सम्भलने की भी क्षमता होती है।

६. प्रमत्तसंयत गुणस्थान - इस अवस्था में वह पूर्णतया सम्यक्-चारित्र की आराधना प्रारम्भ कर देता है। उसका व्रत अणुव्रत न कहलाकर महाव्रत कहलाता है। साधक अपनी आध्यात्मिक परिस्थिति के अनुसार इस भूमिका से नीचे गिर सकता है और ऊपर चढ़ सकता है। जब-जब साधक कषायादि प्रमादों पर अधिकार कर लेता है तब-तब वह ऊपर की श्रेणी में चला जाता है और जब-जब कषायादि प्रमाद उस पर हावी होते हैं तब-तब वह आगे की श्रेणी से विचलित होकर पुनः इस श्रेणी में आ जाता है। वस्तुतः यह उन साधकों का विश्रान्ति स्थल है जो साधना पथ पर प्रगति तो करना चाहते हैं, लेकिन यथेष्ट शक्ति के अभाव में आगे बढ़ नहीं पाते। इस अवस्था में आत्मकल्याण के साथ लोककल्याण की भावना और तदनुकूल प्रवृत्ति भी होती है।

७. अप्रमत्तसंयत गुणस्थान - इस अवस्था में साधक व्यक्त-अव्यक्त सम्पूर्ण प्रमादादि दोषों से रहित होकर आत्मसाधना में लीन रहता है। लेकिन प्रमादजन्य वासनाएँ बीच-बीच में साधक का ध्यान विचलित करती रहती हैं। इस कारण से साधक की नैया छठवें और सातवें गुणस्थान के बीच में डोलायमान रहती है। यह गुणस्थान नैतिकता और अनैतिकता के मध्य होने वाले संघर्ष की पूर्व तैयारी का स्थान है।

८. अपूर्वकरण गुणस्थान - यह अवस्था आत्मगुण-शुद्धि अथवा लाभ की अवस्था है क्योंकि इस अवस्था में साधक का चारित्रबल विशेष बलवान होता है और वह प्रमाद एवं अप्रमाद के इस संघर्ष में विजयी बनकर विशेष स्थायी अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त कर लेता हैं, फलतः उसे एक ऐसी शक्ति की प्राप्ति होती है जिससे वह शेष बचे हुए मोहासक्ति को भी नष्ट कर सकता है। यद्यपि जैन दर्शन में नियति

और पुरुषार्थ के सिद्धान्तों के संदर्भ में एकान्तिक दृष्टिकोण नहीं अपनाता है, फिर भी यदि पुरुषार्थ और नियति के प्राधान्य की दृष्टि से गुणस्थान सिद्धान्त पर विचार किया जाय तो प्रथम से सातवें गुणस्थान तक की सात श्रेणियों में नियति की प्रधानता प्रतीत होती है और आठवें से चौदहवें गुणस्थान तक की सात श्रेणियों में पुरुषार्थ का प्राधान्य प्रतीत होता है। आठवें गुणस्थान से अपूर्वकरण की प्रक्रिया के द्वारा आत्मा कर्मों पर शासन करती है। प्राणि-विकास की चौदह श्रेणियों में प्रथम सात श्रेणियों तक अनात्म का आत्म पर अधिशासन होता है और अंतिम सात श्रेणियों में आत्म का अनात्म पर अधिशासन होता है।

९. अनिवृत्तिकरण गुणस्थान - दृष्ट, श्रुत अथवा भुक्त विषयों की आकांक्षा का अभाव होने के कारण नवें गुणस्थान में अध्यवसायों की विषयाभिमुखता नहीं होती अर्थात् भाव पुनः विषय की ओर नहीं लौटते। आध्यात्मिक विकास के क्रम में गतिशील साधक जब कषायों में केवल बीजरूप सूक्ष्म लोभ छोडकर शेष सभी कषायों का क्षय या उपशमन कर देता है, उसके काम आदि वासनात्मक भाव भी समूल नष्ट हो जाते हैं, तब आध्यात्मिक विकास की यह अवस्था प्राप्त होती है।

१०. सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान - मोहनीयकर्म की २८ कर्म-प्रकृतियों में से २७ कर्म प्रकृतियों के क्षय या उपशम हो जाने पर जब मात्र संज्वलन लोभ शेष रह जाता है तब साधक इस गुणस्थान में पहुँचता है। आध्यात्मिक पतन के कारणों में मात्र सूक्ष्म लोभ के शेष रहने के कारण ही इस गुणस्थान का नाम सूक्ष्मसम्पराय है।

११. उपशान्तमोह गुणस्थान - आध्यात्मिक विकास की इस अवस्था में साधक उपशम विधि द्वारा कषायों को दबाकर ही प्रवेश करता है। जो साधक इस विधि द्वारा आगे बढ़ते हैं, उसके पतन की सम्भावना निश्चित रहती है। गोम्मटसार में कहा गया है कि जिस प्रकार शरद ऋतु में सरोवर का पानी मिट्टी के नीचे बैठ जाने से स्वच्छ दिखाई पडता है, लेकिन उसकी निर्मलता स्थायी नहीं होती, मिट्टी के कारण समय आने पर पुनः मलिन हो जाता है, उसी प्रकार जो आत्माएँ मिट्टी के समान कर्मजल के दब जाने से नैतिक प्रगति एवं आत्मशुद्धि की इस अवस्था को प्राप्त करती हैं वे एक समयावधि के पश्चात् पुनः पतित हो जाती है।[५] यही कारण है कि उपशम विधि के द्वारा आध्यात्मिक विकास करने वाला साधक साधना के मार्ग में उच्च स्तर पर पहुँचकर भी पतित जो जाता है।

१२. क्षीणमोह गुणस्थान - इस अवस्था में साधक क्षायिक विधि के द्वारा

दसवें गुणस्थान से सीधे बारहवें गुणस्थान में आ जाते हैं। यह नैतिक विकास की पूर्ण अवस्था है। उसके जीवन में नैतिकता और अनैतिकता के मध्य होने वाला संघर्ष सदैव के लिए समाप्त हो जाता है, क्योंकि संघर्ष के कारणरूप कोई भी वासना शेष नहीं रहती। ग्यारहवें गुणस्थान के विपरीत स्वरूपवाले बारहवें गुणस्थान की यही विशेषता है कि विकास की भूमि में साधक के पतन की कोई सम्भावना नहीं रहती।

१३. सयोगकेवली गुणस्थान – जैन दर्शन में कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार को योग संज्ञा से विभूषित किया जाता है और इन योगों के अस्तित्व के कारण ही इस अवस्था को सयोगकेवली गुणस्थान कहा गया है। इस गुणस्थान में आने वाले साधक, साधक की श्रेणी में नहीं रह जाता, उसे सिद्ध भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसकी आध्यात्मिक पूर्णता में कुछ कमी रहती है। अष्ट कर्मों में से चार घातीय कर्म तो क्षय कर चुके होते हैं लेकिन चार अघातीय कर्म– आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों के अस्तित्व के बने रहने के कारण आत्मा देह से अपने सम्बन्ध का परित्याग नहीं कर पाती है। इसे सदेहमुक्ति या जीवन्मुक्ति भी कहते हैं। जैन परम्परा में इस अवस्था को अर्हत्, सर्वज्ञ, केवली आदि नामों से विभूषित किया गया है।

१४. अयोगकेवली गुणस्थान – सयोगकेवली गुणस्थान में स्थित साधक आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त तो कर लेता है, लेकिन आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध बना रहता है। सयोगकेवली जब अपने शरीर से मुक्ति पाने के लिए विशुद्ध ध्यान का आश्रय लेकर मानसिक, वाचिक एवं कायिक व्यापारों को सर्वथा रोक देता है तब वह आध्यात्मिक विकास की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। आत्मा की इसी अवस्था का नाम अयोगकेवली गुणस्थान है। इस अवस्था में कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार का पूर्णतः निरोध हो जाता है। यह चारित्र विकास या आध्यात्म विकास की चरमावस्था हैं। आत्मा उत्कृष्टतम शुक्लध्यान द्वारा सुमेरु पर्वत की तरह निष्प्रकम्पस्थिति को प्राप्त कर अन्त में देहत्यागपूर्वक सिद्धावस्था को प्राप्त होती है । इसे जैन दर्शन में मोक्ष, निर्वाण, शिवपथ एवं निर्गुण ब्रह्मस्थिति कहा गया है।[६]

अब हम योगवासिष्ठ में प्रतिपादित ज्ञान की सात भूमिकाओं पर विचार करेंगे। लेकिन इस पर विचार करने से पहले इसी ग्रन्थ में प्रतिपादित अज्ञान की सात भूमिकाओं का उल्लेख करना भी आवश्यक है। आत्मस्वरूप में अनादिकाल से अज्ञान

का आरोप है। अज्ञान की सात भूमिकाएँ इस प्रकार हैं- (१) बीज जग्रत् (२) जाग्रत्

(३) महाजाग्रत् (४) जाग्रत्-स्वप्न (५) स्वप्न (६) स्वप्नजाग्रत् और (७) सुषुप्ति।

१. बीज जाग्रत् - सृष्टि के आदि में चिन्मय परमात्मा से जो प्रथम, नाम-निर्देश रहित एवं विशुद्ध व्यष्टि चेतन प्रकट होता है, वह भविष्य में होनेवाले जीवादि नामों से पुकारा जा सकता है और जिसमें जाग्रत् अवस्था का अनुभव बीजरूप से स्थित होता है, उसे बीजजाग्रत् कहते हैं।

२. जाग्रत् - नवजात बीज जाग्रत् के पश्चात् यह ज्ञान कि "यह मैं हूँ", "यह मेरा है" जाग्रत् कहलाता है। इसमें पूर्वकाल की कोई स्मृति नहीं होती।

३. महाजाग्रत् - पहले जन्मों में उदय हुआ और दृढ़ता को प्राप्त हुआ यह ज्ञान कि "यह मैं हूँ" और "यह मेरा है", महा जाग्रत् कहलाता है। जैसे ब्राह्मण आदि जातियों में उत्पन्न हुए लोगों में से किसी-किसी व्यक्ति का जन्मान्तर के अभ्यास से अपने वर्णोचित कर्मों में विशेष आग्रह और नैपुण्य देखा जाता है, सबमें ऐसी बात नहीं पायी जाती है। अतः इस जन्म के या जन्मान्तर के दृढ़ अभ्यास से दृढ़ता को प्राप्त हुई जो पूर्वोक्त जाग्रत् प्रतीति है, उसी को महाजाग्रत् कहा गया है।

४. जाग्रत् स्वप्न - जाग्रत् अवस्था का दृढ़ या अदृढ़ जो सर्वथा तन्मयात्मक मनोराज्य है, इसी को जाग्रत् स्वप्न कहते हैं। वह कई प्रकार का होता है- जैसे एक चन्द्रमा की जगह दो चन्द्रमा का दर्शन, सीपी के स्थान पर चाँदी की प्रतीति और मृगतृष्णादि का भान। प्रचलित भाषा में इस प्रकार के ज्ञान को भ्रम कहते हैं। इसका उदय कल्पना द्वारा जाग्रत् दशा में होता है इसलिए इसका नाम जाग्रत्स्वप्न है।

५. स्वप्न - महाजाग्रत् अवस्था के अन्तर्गत निद्रा के समय अनुभव किये हुए विषय के प्रति जागने पर जब इस प्रकार का भाव हो कि 'यह विषय असत्य है और इसका अनुभव मुझे अल्प समय के लिए ही हुआ था'- उस ज्ञान का नाम स्वप्न है।

६. स्वप्नजाग्रत् - जब अधिक समय तक जाग्रत् अवस्था के स्थूल विषयों और स्थूल देह का अनुभव न हो तो स्वप्न ही जाग्रत् के समान होकर महाजाग्रत् सा मालूम पडने लगता है। स्थूल शरीर के रहते हुए अथवा न रहते हुए जब इस प्रकार का अनुभव होता है तो उसे स्वप्न जाग्रत् कहते हैं।

७. सुषुप्ति - पूर्वोक्त छः अवस्थाओं का परित्याग करने पर जो जीव की जड़

अवस्था है वही भावी दुःखों का बोध करानेवाले बीजरूप अज्ञान से सम्पन्न सुषुप्ति है। इस अवस्था में संसार के तृण, मिट्टी, पत्थर आदि सब ही पदार्थ अत्यन्त सूक्ष्म रूप से वर्तमान रहते हैं।

इस प्रकार से ये सात प्रकार की अज्ञान की भूमिकायें है जो नाना प्रकार के विकारों तथा लोकान्तरों के भेदों से युक्त होने के कारण निन्द्य एवं त्याज्य बताई गयी हैं।

आत्मा का बोध करानेवाली ज्ञान की सात भूमिकायें हैं। मुक्ति इन भूमिकाओं से परे है। मोक्ष और सत्य का ज्ञान ये पर्यायवाची शब्द है। जिसको सत्य का ज्ञान हो गया है वह जीव फिर जन्म नहीं लेता। ज्ञान की सात भूमिकायें इस प्रकार है[७] - शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थभावनी, तुर्यगा। इनके अन्त में मुक्ति है जिसको प्राप्त करके शोक नहीं रहता। इन भूमिकाओं का वर्णन इस प्रकार है-

१. **शुभेच्छा** - वैराग्य उत्पन्न होने पर इस प्रकार की इच्छा कि 'मैं अज्ञानी क्यों रहूँ, क्यों न शास्त्र और सज्जनों की सहायता से सत्य को जानूँ' शुभेच्छा कहलाती है।[८] शास्त्र निषिद्ध कर्मों का मन, वाणी और शरीर से त्याग निष्काम यज्ञ, दान आदि के अनुष्ठान से उत्पन्न, संयास मुक्तिपर्यंत रहनेवाली श्रवण आदि में प्रवृत्ति के फलस्वरूप आत्म-साक्षात्कार की उत्कट इच्छा ही ज्ञान की पहली भूमिका है। इस भूमिका को श्रवण भूमिका भी कहते हैं।

२. **विचारणा** - शास्त्रों के अध्ययन, मनन और सत्पुरुषों के संग तथा विवेक-वैराग्य के अभ्यासपूर्वक सदाचार में प्रवृत्ति का नाम विचारणा है।[९] उपर्युक्त प्रकार से सत्पुरुषों के संग, सेवा एवं आज्ञा-पालन से सत्-शास्त्रों के अध्ययन-मनन से, तथा दैवी सम्पदा सद्गुण-सदाचार के सेवन से उत्पन्न हुआ विवेक ही विचारणा है। भाव यह है कि सत्-असत् और नित्य-अनित्य वस्तु के विवेचन का नाम विवेक है। विवेक इनको पृथक् कर देता है। सब अवस्थाओं में और प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण आत्मा और अनात्मा का विश्लेषण करते-करते यह विवेक सिद्ध होता है। उपर्युक्त विवेक के द्वारा जब सत्-असत् और नित्य-अनित्य का पृथक्करण हो जाता है, तब असत् और अनित्य से आसक्ति हट जाती है एवं इस लोक और परलोक के सम्पूर्ण पदार्थों और कर्मों में कामना और आसक्ति का न रहना ही 'वैराग्य' है । महर्षि पतंजलि ने कहा है, दृष्टानुश्रविकविटवितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम् (योगदर्शन १/

१५)। इस प्रकार विवेक-वैराग्य हो जाने पर साधक का चित्त निर्मल हो जाता है। उसमें क्षमा, सरलता, पवित्रता तथा प्रिय-अप्रिय की प्राप्ति में समता आदि गुण आने लगते हैं। प्रथम भूमिका में श्रवण किये हुए महावाक्यों (तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि आदि) का निरन्तर मनन और चिन्तन करना ही प्रधान होने के कारण इस दूसरी भूमिका को विचारणा कहा गया है अतः इसे 'मनन' भूमिका भी कहा जाता है।

३. **तनुमानसा** - उपर्युक्त शुभेच्छा और विचारणा के द्वारा इन्द्रियों के विषय भोगों में आसक्ति का अभाव होना और अनासक्त हो संसार में विचरण करना, यह तनुमानसा कहलाता है।[१०] अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त कामना, आसक्ति और ममता के अभाव से सत्पुरुषों के संग और सत्-शास्त्रों के अभ्यास से तथा विवेक-वैराग्यपूर्वक निदिध्यासन-ध्यान के साधन से साधक की बुद्धि तीक्ष्ण हो जाती है तथा उसका मन शुद्ध, निर्मल, सुक्ष्म और एकाग्र हो जाता है, जिससे उसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्मतत्त्व को ग्रहण करने की योग्यता अनायास ही प्राप्त हो जाती है। इसे 'निदिध्यासन भूमिका' भी कहा जा सकता है।

ये तीनों भूमिकाएँ साधनरूप है। इनमें संसार से कुछ सम्बन्ध रहता है, अतः यहाँ तक साधक की जाग्रत्-अवस्था मानी गई है।

४. **सत्त्वापत्ति** - उपर्युक्त तीनों भूमिकाओं के अभ्यास से बाह्य विषयों में संस्कार न रहने के कारण चित्त में अत्यन्त विरक्ति होने से माया, माया के कार्य और तीनों अवस्थाओं से शोधित, सबके आधार, सन्मात्ररूप आत्मा में दूध में जल के समान ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेयभाव के विनाश से साक्षात्कारपर्यंत निर्विल्पक समाधिरूपा स्थिति सत्त्वापत्ति है[११] इस भूमिका में मन परमात्मसत्त्वरूप से स्थित होने से जीव ब्रह्मवित् कहा जाता है। इसी को गीता में निर्वाण ब्रह्म की प्राप्ति कहा गया है- जो अन्तःकरण में सुख का अनुभव करता है, जो कर्मठ है और अन्तःकरण में ही रमण करता है तथा जिसका लक्ष्य अन्तर्मुखी होता है वह सचमुच पूर्ण योगी है। वह परब्रह्म में मुक्ति पाता है और अन्ततोगत्वा ब्रह्म को प्राप्त होता है।[१२]

जिस प्रकार सारी नदियाँ बहती हुई अपने नाम-रूप को छोडकर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी महात्मा नामरूप से रहित होकर परम दिव्य पुरुष परात्पर परमात्मा को प्राप्त हो जाता है, उसी में विलीन हो जाता है।[१३]

जब साधक को परब्रह्म का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब वह ब्रह्म ही हो जाता है- ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। (मुण्डकोपनिषद् ३/२/१)

इस चौथी अवस्था में पहुँचे हुए पुरुष को ब्रह्मवित्-ब्रह्मवेत्ता कहा जाता है और वह लौटकर नहीं आता। इसमें संसार उस ज्ञानी महात्मा के अन्तःकरण में स्वप्नवत् भासित होता है, इसलिए यह उसके अन्तःकरण की स्वप्नावस्था मानी जाती है। श्री याज्ञवल्क्यजी, राजा अश्वपति और जनक आदि इस भूमिका में पहुँचे हुए माने गये हैं।

५. **असंसक्ति**- जब पूर्वोक्त चारों के सिद्ध हो जाने पर स्वाभाविक अभ्यास से बाह्याभ्यन्तर सभी विषय-संस्कारों से अत्यन्त असम्बन्धरूप समाधिपरिपाक से चित्त में निरतिशयानन्द, नित्यापरोक्ष, ब्रह्मात्मभावसाक्षात्काररूप चमत्कार उत्पन्न होने से ऐसी पाँचवी 'ज्ञानभूमि असंसक्ति' नाम से कही जाती है।[१४]

परम वैराग्य और परम उपरति के कारण उस ब्रह्मप्राप्त ज्ञानी महात्मा का इस संसार और शरीर से अत्यन्त सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। ऐसे पुरुष का संसार से कोई भी प्रयोजन नहीं रहता। अतः कर्म करने या न करने के लिए बाध्य नहीं है। गीता में भगवान ने कहा है- स्वरूपसिद्ध व्यक्ति के लिए न तो अपने नियत कर्मों को करने की आवश्यकता रह जाती है और न ऐसा कर्म न करने का कोई कारण ही रहता है। उसे किसी अन्य जीव पर निर्भर रहने की आवश्यकता भी नहीं रह जाती है।[१५]

फिर भी उस ज्ञानी महात्मा पुरुष के सम्पूर्ण कर्म शास्त्रसम्मत और कामना एवं संकल्प से शून्य होते हैं। इस प्रकार जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुष को ज्ञानीजन भी पंडित कहते हैं।[१६] श्री भरतजी इस पाँचवी भूमिका में स्थित माने जा सकते हैं।

६. **पदार्थाभावनी** - पाँचवी भूमिका के पश्चात् जब वह ब्रह्मप्राप्त पुरुष छठीं भूमिका में प्रवेश करता है, तब उसकी नित्य समाधि रहती है। इसके कारण उसके द्वारा कोई भी क्रिया नहीं होती। उसके अन्तःकरण में शरीर और संसार के सम्पूर्ण पदार्थों का अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है। उसे संसार का और शरीर के बाहर-भीतर का बिल्कुल ज्ञान नहीं रहता, केवल श्वास आते-जाते हैं। इसलिए इस भूमिका को पदार्थाभावनी कहते हैं।[१७] जैसे- गाढ़ सुषुप्ति में स्थित पुरुष को बाहर-भीतर के पदार्थों का ज्ञान बिल्कुल नहीं रहता है, वैसे ही इसको भी ज्ञान नहीं रहता है। अतः उस पुरुष की इस अवस्था को गाढ़ सुषुप्ति अवस्था भी कहा जा सकता है।

किन्तु गाढ़ सुषुप्ति में स्थित पुरुष के तो मन-बुद्धि अज्ञान के कारण अपने कारण माया में विलीन हो जाते हैं। अतः उसको स्थिति तमोगुणमयी है, पर इस ज्ञानी महापुरुष के मन बुद्धि ब्रह्म में तद्रूप हो जाते हैं। अतः इसकी अवस्था गुणातीत है। इसलिए यह गाढ़ सुषुप्ति से अत्यन्त विलक्षण है।

गाढ़ सुषुप्ति में स्थित पुरुष तो निद्रा के परिपक्व हो जाने पर स्वतः ही जाग जाता है किन्तु इस समाधिस्थ ज्ञानी महात्मा पुरुष की व्युत्थानावस्था तो दूसरों के बारम्बार प्रयत्न करने पर ही होती है, अपने-आप नहीं। उस व्युत्थानावस्था में वह जिज्ञासु के प्रश्न करने पर पूर्व के अभ्यास के कारण ब्रह्मविषयक तत्त्वरहस्य को बता सकता है। इसी कारण ऐसे पुरुष को 'ब्रह्मविद्वरीयान्' कहते है।

श्री ऋषभदेवजी इस छठी भूमिका में स्थित माने जा सकते है।

७. तुर्यगा- छठी भूमिका के पश्चात् सातवी भूमिका स्वतः ही हो जाती है। उस ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महात्मा पुरुष के हृदय में संसार का और शरीर के बाहर-भीतर के लौकिक ज्ञान का अत्यन्त अभाव हो जाता है। क्योंकि उसके मन-बुद्धि ब्रह्म में तद्रूप हो जाते हैं, इस कारण उसकी व्युत्थानावस्था तो न स्वतः होती है और न दूसरों के द्वारा प्रयत्न किये जाने पर ही होती है। जैसे मुर्दा जगाने पर भी नहीं जाग सकता, वैसे ही यह मुर्दे की भाँति हो जाता है। अंतर इतना ही रहता है कि मुर्दे में प्राण नहीं रहते और इसमें प्राण रहते हैं तथा यह श्वास लेता रहता है। ऐसे पुरुष का संसार में जीवन-निर्वाह दूसरे लोगों के द्वारा केवल उसके प्रारब्ध के संस्कारों के कारण ही होता रहता है। वह प्रकृति और उसके कार्य सत्त्व, रज, तम तीनों गुणों से और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति-तीनों अवस्थाओं से अतीत होकर ब्रह्म में विलिन रहता है, इसलिए यह उसके अन्तःकरण की अवस्था तुर्यगा भूमिका कही जाती है।[१८]

ब्रह्म की दृष्टि में संसार का अत्यन्त अभाव है। उपर्युक्त महात्मा पुरुष उस सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को नित्य ही प्राप्त है। अतः उसके मन-बुद्धि में भी शरीर और संसार का अत्यन्त अभाव है। इसलिए ऐसे पुरुष को ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहते हैं। ऐसे महापुरुष से वार्तालाप न होने पर भी उसके दर्शन और चिन्तन से ही मनुष्य के चित्त में मल, विक्षेप और आवरण का नाश होने से उसकी वृत्ति परमात्मा की ओर आकृष्ट होने पर उसका कल्याण हो सकता है।

यह तुर्यावस्था जीवन्मुक्त पुरुषों में इस शरीर के रहते हुए ही विद्यमान रहती है। इस देह का अन्त होने पर विदेह मुक्ति का विषय साक्षात् तुर्यातीत ब्रह्म ही है।

ज्ञान की ये सात भूमिकाएँ विवेकी पुरुषों को ही प्राप्त होती है। जो इन भूमिकाओं में पहुँचकर उत्तरोत्तर उत्कृष्ट स्थानों पर विजय पाते जाते हैं, वे महात्मा निश्चय ही वन्दनीय है।

इस प्रकार से योगवासिष्ठ और जैन परम्परा में आध्यात्मिक विकास की ये अवस्थाएँ है जिनमें सात आध्यात्मिक विकास की अवस्था और सात आध्यात्मिक पतन की अवस्था है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो जैन परम्परा के गुणस्थान सिद्धान्त में भी आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से विकास का सच्चा स्वरूप अप्रमत्त चेतना के रूप में सातवें स्थान से प्रारम्भ होता है। इस प्रकार जैन परम्परा में भी चौदह गुणस्थानों में सात अवस्थाएँ आध्यात्मिक विकास की ओर सात अवस्थाएं आध्यात्मिक अविकास की हैं।[१९] योगवासिष्ठ की उपर्युक्त मान्यता की जैन परम्परा से कितनी निकटता है इसका निर्देश पं. सुखलाल जी ने भी किया है।[२०]

योगवासिष्ठ एवं जैन परम्परा में आचरणात्मक पक्ष पर विशेष बल दिया गया है। जैन दर्शन के तीन रत्न है-सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। जब तक हम ज्ञान को अपने आचरण में नहीं लाएगें तब तक हम मोक्ष की ओर अग्रसर नहीं होगें। ज्ञानात्मक पक्ष के सम्यक् होने के साथ-साथ उसका आचरण पक्ष भी सम्यक् होना चाहिए। इसी प्रकार योगवासिष्ठ का भी ज्ञान और कर्म के सम्बन्ध में विचार है। इस ग्रंथ में ज्ञान और कर्म में समन्वय स्थापित किया गया है।[२१] जो ज्ञान आचरण या व्यवहार में न हो उस ज्ञान का कोई अर्थ नहीं है। इस ग्रंथ ने तो यहाँ तक कहा है कि जो ज्ञानी ज्ञान के अनुरूप आचरण नहीं करते अर्थात् जिनकी कथनी और करनी में अंतर है, वे ज्ञानी नहीं ज्ञानबन्धु है और इनसे अच्छा अज्ञानी है। कहने का तात्पर्य यह है ये दोनों ही आचरण पक्ष को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। हम अपने लक्ष्य अर्थात् मोक्ष को तभी प्राप्त कर सकते हैं जब ज्ञान को अपने आचरण में समाविष्ठ करें। वर्तमान समस्याओं की मूल में हमारी इस आचरण पक्ष का असम्यक् होना है। हम यथार्थ को जानते हैं, क्या सही है क्या गलत है इसे भी जानते हैं लेकिन उसे आचरण में चरितार्थ नहीं कर पाते। अतः हम ज्ञानात्मक पक्ष के साथ-साथ आचरणात्मक पक्ष को भी सम्यक् करके ही आध्यात्मिक पथ के पथिक बनकर अपने लक्ष्य की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर हो सकते हैं।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि टीका (पूज्यपाद), ८/१

२. मिच्छंतं वेदंतो जीवो विवरीदयंसणो होदी।
सा य धम्मं रोचेहि हु महुरं रवु रसं जहा जरिदो। १/१७
गोम्मटसर (जीव काण्ड) जैन, जे. एल., दी सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाऊस, अजितआश्रम, लखनऊ, १९२७।

३. जैन, सागरमल, गुणस्थान सिद्धांत : एक विश्लेषण, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वारणसी, १९९६, पृ. ५३

४. सम्मत्तमिच्छपरिसामेसु जहिं आउगं पुरा बद्धं।
तहिं मरसां समुग्घादो वि य सा मिस्सम्मि। २४
गोम्मटसर (जीव काण्ड) जैन, जे. एल., दी सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाऊस, अजितआश्रम, लखनऊ, १९२७।

५. कदककफलजुदजलं वा सरए सरवारियं व शिम्मलयं।
सयलोवसंतमोहो उबसंतकसायओ होदि। ६१, गोम्मटसर (जीव काण्ड) जैन, जे. एल., दी सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाऊस, अजितआश्रम, लखनऊ, १९२७

६. ज्ञानसार त्यागाष्टक, दर्शन एवं चिन्तन, पं. सुखलाल संघवी, पृ. २७५

७. ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा। योगवासिष्ठ ३/११८/५
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका।
पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता। योगवासिष्ठ ३/११८/६

८. स्थितः किं मूढ एवाऽस्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः। योगवासिष्ठ ३/११८/८

९. शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा। योगवासिष्ठ ३/११८/९

१०. विचारणा शुभेच्छाभ्यामिन्द्रियामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता।
याऽत्र सा तनुताभावात् प्रोच्यते तनुमानसा। योगवासिष्ठ ३/११८/१०

११. भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात्।
सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरूदाहृदा।। योगवासिष्ठ ३/११८/११

१२. योऽन्तः सुखोन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।। गीता ५/२४

१३. यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
विद्वान् नामरूपात् विमुक्तः परात्परं पुरुषपैति दिव्यम्।। मुण्डकोपनिषद् ३/२/३

१४. दशाचतुष्टयाभ्यासादसंगगफलेन च।
रूढसत्त्वचमत्कारात् प्रोक्ताऽसंसक्तिनामिका।। योगवासिष्ठ ३/११८/१२

१५. नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।। गीता ३/१८

१६. यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। गीता ४/१९

१७. भूमिकापन्चकाभ्यासात् स्वात्मरामतया दृढम्।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात्।। योगवासिष्ठ ३/११८/१३

१८. भूमिषटक्चिराभ्यासाद् भेदस्या।44 Ambmo अनुपलम्भतः।
यत् स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः।। योगवासिष्ठ ३/११८/१५

१९. जैन, सागरमल, गुणस्थान सिद्धांत : एक विश्लेषण, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वारणसी, १९९६, पृ. ११४-११५

२०. पं. सुखलाल जी, दर्शन और चिन्तन भाग-२, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, १९५७, पृ. २८२-२८३

२१. केवलात् कर्मणो ज्ञानान्न हि मोक्षोऽभिजायते।
किन्तूभाभ्यां भवेन्मोक्षः साधनं तूभयं विदुः।। योगवासिष्ठ १/१/८

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY PUBLICATIONS

Daya Krishna, A. M. Ghose (eds), Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives. Rs. 10/-

S.V. Bokil (Tran.) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs. 25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs. 10/-

Ramchandra Gandhi (ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs. 50/-

S. S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs. 70/-

Daya Krishana, A. M. Ghose and P. K. Srivastv (eds), The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs. 60/-

M. P. Marathe, Meena Kelkar and P. P. Gokhale (eds), Studies in Jainism, Rs. 50/-

R. Sunder Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S. S. Barlingay(ed), A Critical Survey Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs. 50/-

R. K. Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs. 25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs. 30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs. 100/-

Contact :

The Editor,

Indian Philosophical Quarterly

Departrrien of Philosophy

Savitribai Phule Pune University,

Pune - 411007

जैन परंपरा में पर्यावरण

अनिल कुमार तिवारी

"जो व्यक्ति पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि तथा वनस्पतियों की उपेक्षा या तिरस्कार करता है, वह स्वंय के अस्तित्व जो कि वस्तुतः इन तत्त्वों से अपृथक् है, का तिरस्कार करता है।" **–महावीर**

प्रस्तावना :

आर्य सय्यम्भव रचित दसवेयालिय सुत्त[१] (संस्कृत- दशवैकालिक सूत्र) के प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में कहा गया है :

जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियइं रसं।
न य पुप्फं किलामेइ सो य पीणेइ अप्पयं।।२।।
एमेए समणा मुत्ता जे लाये संति साहुणो।
विहंगमा व पुप्फेसु दाणभत्तेसणे रथा।।३।।

अर्थात् एक श्रमण को गृहस्थों से जीवित रहने के लिए उसी प्रकार का भोजन प्राप्त करना चाहिए जिस प्रकार एक भ्रमर विभिन्न पुष्पों को क्षति पहुँचाये बिना पराग-रस का पान करते है। गृहस्थ जीवन अन्य प्रकार के मानव जीवन का आधार होता है क्योंकि इसी जीवन में धनार्जन और उपभोग की आंकाक्षा की जाती है तथा विद्यार्थी-वृद्ध-संन्यासी सभी का पोषण यही से होता है। जैन सहित सम्पूर्ण भारतीय परम्परा में संन्यास जीवन को आदर्श माना जाता है और इसमें व्यक्ति द्वारा ऐसे आचरण की अपेक्षा की जाती है जिससे समाज पर कोई हानिकारक प्रभाव न हो। दूसरे शब्दों में संन्यासी को समाज से उतना ही उपभोग्य प्राप्त करने की अपेक्षा की जाती है जिससे ऐसा प्रतीत हो कि संन्यासी कोई उपभोग कर ही नहीं रहा है। मनुष्य और प्रकृति के बीच इसी तरह का सम्बन्ध एक आदर्श हो सकता है। आज हम पर्यावरण संकट के जिस दौर से गुजर रहे हैं उससे मुक्त होने के लिए जैन परम्परा यही सुझाव देना चाहेगी कि मनुष्य को प्रकृति से उतना प्राप्त करना चाहिए कि जितना कि प्रकृति का पुनरुत्पादन करने की क्षमता के भीतर हो और उसमें कोई अपूर्णनीय क्षति न हो तथा पर्यावरण में असन्तुलन न पैदा हो। अर्थात् किसी युग विशेष के मानवीय अस्तित्व का प्रकृति पर कोई निषेधपरक स्थायी चिन्ह अंकित नहीं होना चाहिए। इस सुझाव का वैचारिक आधार जैन दर्शन के तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त

अनेकान्तवाद तथा नैतिक सिद्धान्त अहिंसा में दिखायी देता है। इन दोनों सिद्धान्तों को प्रसंग के अनुकूल संक्षेप में समझना उपयोगी है।

अनेकान्तवाद

अनेकान्तवाद सापेक्षिक बहुत्ववाद (Relative pluralism) का सिद्धान्त है। इसके अनुसार संसार में अगणित चेतन और जड वस्तुएं है तथा उनमें अनन्त गुण हैं। इन अगणित वस्तुओं और उनके गुणों से परस्पर निर्भरता का सम्बन्ध है (परस्परोपग्रहोपजीवानाम्)। जगत् की स्थिरता और व्यवस्था का आधार यही परस्पराश्रयता है। वस्तुओं का अस्तित्व अनेक गुणों पर निर्भर है और इन गुणों के माध्यम से वे जगत् की अन्य सभी वस्तुओं से विभिन्न सम्बन्धों से जुडी हुई हैं। प्रत्येक सम्बन्ध वस्तु के एक पहलू का निर्धारण करते हैं (नय)। इसलिए एक वस्तु को पूरी तरह जानने का दावा तभी किया जा सकता है जब वस्तु के सभी पहलुओं को जाना जाय। वस्तु के सभी पहलुओं को जानने का अर्थ है उसका जगत् की शेष वस्तुओं से सम्बन्धों का ज्ञान। *तर्करहस्यदीपिका* में कहा गया है कि जो व्यक्ति एक वस्तु को समग्र रूप से जान लेता है वह सभी वस्तुओं को जान लेता है और जो सभी वस्तुओं को जान लेता है वह एक वस्तु को जान लेता है।[४] किसी वस्तु के समग्र रूप का ज्ञान एक सूचना मात्र नहीं है इससे उस वस्तु के प्रति हमारे व्यवहार का निर्धारण होता है।

वास्तव में मनुष्य अपने कृत्यों के द्वारा जगत् की वस्तुओं के बीच सम्बन्धों की ही पुनर्रचना करता है। परन्तु सामान्य मनुष्य के ज्ञान का दायरा सीमित है और इस सीमित दायरे में ही वह सम्बन्धों की स्थापना-पुनर्स्थापना का प्रयास करता है। हम यह भी कह सकते हैं कि मनुष्य का समस्त जगत् व्यापार सम्बन्धों का ही व्यवस्थापन है। उदाहरण के लिए यदि मनुष्य किसी वस्तु की सांगठनिक व्यवस्था में परिवर्तन करता है तो वह उस वस्तु के विभिन्न भागों के बीच सम्बन्धों को बदलता है। इसी प्रकार जब वह किसी कमरे की व्यवस्था को बदलता है तो वह कमरे की वस्तुओं के बीच सम्बन्धों में परिवर्तन करता है। अपने वातावरण में व्यवहार करते समय वह आस-पास की वस्तुओं की व्यवस्था में परिवर्तन करता है।

यहाँ पर दो बातें उल्लेखनीय हैं। पहली यह कि विवेकशील प्राणी होने के कारण मनुष्य अपने वातावरण में किसी भी नवीन सम्बन्ध की स्थापना के पूर्व पक्ष-विपक्ष पर विचार अवश्य करता है। विचारणा के अन्तर्गत यह अपनी जानकारी के अनुसार नये सम्बन्ध के संभावित परिणाम की गणना करता है। दूसरे शब्दों में वह विचार

करता है कि उसका अमुक कृत्य किस ढंग का प्रभाव उत्पन्न करेगा। कम से कम वह यह अवश्य सोचता है कि इस कृत्य का स्वयं उसके ऊपर या मानवजाति पर क्या प्रभाव पडेगा। परन्तु जैसा कि पहले कहा गया है उसके ज्ञान का दायरा सीमित है और इस बात की पूरी सम्भावना रहती है कि वह दूरगामी प्रभावों की गणना न कर सके। दूसरी बात यह कि व्यक्ति अपने सीमित ज्ञान के आधार पर कार्य करने की प्रवृत्ति रखता है, कम-से-कम ऐसे ज्ञान को क्रियान्वित करने में जो उपयोगी है तथा भौतिक सुख उत्पन्न करता है। मानव जीवन को सुख और सुविधा सम्पन्न बनाने के लिए ही विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति हुई है। परन्तु सुख और सुविधा जुटाने की लालसा ने प्रकृति पर गम्भीर असर डाला है और आज हमारे समक्ष पर्यावरण प्रदूषण जैसी समस्या उत्पन्न हो गई है। क्या हम इसे प्रकृति के विरुद्ध की गयी हिंसा कह सकते हैं?

अहिंसा

जैन विचार परम्परा में अहिंसा का महत्त्व इसी बात से समझा जा सकता है कि यह प्रायः असम्भव है कि अहिंसा की चर्चा हो और जैन परम्परा का नाम दिमाग में न आये। अहिंसा के पुजारी महात्मा गांधी पर इस मत का विशेष प्रभाव दिखायी देता है। इससे यही सिद्ध होता है कि अहिंसा का सिद्धान्त जैन परम्परा की विशेष पहचान है। स्वामी महावीर का कहना है कि अहिंसा से सूक्ष्म और जीवन के प्रति सम्मान से उत्तम आत्मा में कोई अन्य गुण नहीं है।[५] स्पष्ट हैं कि अहिंसा की अवधारणा जैन परम्परा की आत्मा है। यह अवधारणा उसके जीव विषयक सिद्धान्त पर आधारित है। जैन दर्शन में जीव शब्द को अनेक अर्थों में प्रयोग किया गया है, जैसे - प्राणी, चेतना, आत्मा। इसे सारतः सांख्य दर्शन के पुरुष के निकट समझना चाहिए।[६] जीवों की संख्या अपरिमित है। समस्त जीव अनन्तचतुष्टय- अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य एवं अनन्त आनंद से युक्त है तथा पूर्वजन्म के कर्मफल (कर्मपुद्‌गल) के अनुसार विभिन्न शरीरों से सम्बद्ध होते हैं। जैसे -मानव शरीर, पशु शरीर, पेड पौधें एवं सूक्ष्म जीवाणु इत्यादि। शरीर की क्षमता के अनुसार उसमें जीव-शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। जैन परम्परा में शरीर की क्षमता का आकलन ज्ञानेन्द्रियों की संख्या के आधार पर किया गया है। सबसे सूक्ष्म शरीर वाले जीवों, जिन्हें स्थावर कहा जाता है इनमें केवल एक ज्ञानेन्द्रिय होती है और वे पृथ्वी, वायु, जल, अग्नि तथा वनस्पति में निवास करते हैं। अन्य जीवों को त्रस कहते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी

आदि जीवों में सर्वाधिक पांच ज्ञानेन्द्रियाँ पायी जाती हैं। जीव जिस भी शरीर से सम्बद्ध होता है उसी का आकार धारण कर लेता है। इस प्रकार जैन दर्शन में जीव विषयक एक विचित्र मत मिलता है जिसमें जीव को साकार कहा गया है।

जैन विचारक सभी स्थानों एवं समस्त वस्तुओं में किसी न किसी जीव का निवास मानते हैं। इस अर्थ में पर्यावरण एक जीवित समग्र है। जीवन के किसी भी रूप को क्षति पहुंचाना हिंसा माना जाता है इसलिए जैन विचारकों का अहिंसा को निरपेक्ष रूप में स्वीकार करना स्वाभाविक है। संन्यासियों के लिए जैन परम्परा में पूर्णतया अहिंसक होना आवश्यक है (महाव्रत)। इन्हें हर तरह से पांचों व्रत सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का मन, वचन, कर्म से पालन करना होता है। परन्तु समाज में कोई भी जीव पूर्णतया अहिंसक रहकर जीवित नहीं रह सकता। अर्थात् जीवित रहने के लिए कुछ मात्रा में हिंसा अनिवार्य है। गृहस्थ आश्रम न केवल एक उत्तरदायित्वपूर्ण जीवन है बल्कि अन्य आश्रमों का आधार भी है। इसी बात को ध्यान में रखकर जैन दर्शन में गृहस्थों के लिए अणुव्रत का प्रावधान किया गया है जिसमें पारिवारिक और सामाजिक दायित्व के निर्वहन के लिए न्यूनतम मात्रा में हिंसा करने की अनुमति दी गयी है।

मनुष्य को सामाजिक दायित्व निर्वहन के लिए किसी उद्यम का चुनना अपरिहार्य है। जैन मतानुसार व्यक्ति को उसी उद्यम को वरीयता देनी चाहिए जिसमें हिंसा की मात्रा न्यूनतम (अल्पद्रोह) हो।[७] इस परम्परा में हिंसा को चार कोटियों में रखा गया है। उद्यम के दौरान की गयी हिंसा को उद्यमी-हिंसा कहा गया है। पर्यावरण सम्बन्धी समस्या का सम्बन्ध विशेष रूप से इसी प्रकार की हिंसा से है। इसी तरह रोजमर्रा कार्य करते समय निराशय जो हिंसा हो जाती है उसे आरम्भी हिंसा कहा जाता है। व्यवसाय के हिसाब से स्वीकार्य हिंसा की मात्रा भी अलग-अलग होती है। जैसे हिंसा की जो मात्रा एक व्यापारी के लिए स्वीकार्य है वह एक सैनिक के लिए अपर्याप्त है। अपनी एवं देश की सुरक्षा के लिए आक्रान्ता के विरुद्ध की गयी हिंसा को विरोधी-हिंसा कहा गया है। जैन विचारकों के अनुसार एक सैनिक को विरोधी हिंसा के रूप में सदैव सुरक्षात्मक दृष्टिकोण ही अपनाना चाहिए। हमारे देश ने सुरक्षा नीति के रूप में इसी दृष्टिकोण को अपनाया है। उपर्युक्त तीनों प्रकार की हिंसा गृहस्थ जीवन में अनिवार्य है इन्हें इस जीवन में रहते हुए निराकृत करना कठिन है। इस जीवन में संकल्पी-हिंसा से बचा जा सकता है और बचना चाहिए। इसके तहत ऐसी

हिंसा आती है जिससे बिना किसी विशेष असुविधा के बचा जा सकता है। जैसे मन बहलाने के लिए शिकार खेलना या प्रमादवश किसी के प्रति हिंसा करना। गांधीजी ने इसके लिए एक सूची तैयार की थी जिसमें आवश्यकता से अधिक भोजन करना, विशाल भवन का निर्माण, रेशमी वस्त्र पहनना, मोतियों का व्यापार करना, कीटनाशकों का ज्यादा इस्तेमाल करना, पर्यावरण को दूषित करना, बडे पैमाने पर औद्योगीकरण, बेमतलब धन संचयन आदि को वर्जित कहा गया है क्योंकि इनसे अनाश्यक हिंसा होती है।[८]

जैन परम्परा में अहिंसा का वही स्थान है जो करुणा का बौद्ध परम्परा में। इसका अर्थ यह है कि अहिंसा केवल एक निषेधात्मक विचार नहीं है बल्कि इसका भावात्मक पक्ष भी है। अहिंसा का मतलब दूसरों को कष्ट पहुँचाने से ही बचना नहीं है बल्कि उससे प्रेम करना भी इसमें शामिल है। ओशो रजनीश इस अर्थ में भी अहिंसा को पूर्ण या वास्तविक नहीं मानते।[९] उनका मानना है कि अहिंसा वीतराग दशा है। यह राग और द्वेष दोनों से परे है। इसलिए वे गांधीजी को अहिंसक नहीं मानते क्योंकि गांधीजी के मत में अहिंसा प्रेम की अभिव्यक्ति है और यह अभिव्यक्ति निषेधात्मक (दूसरों को सताना नहीं) एवं भावात्मक (उनके कल्याण के लिए कार्य करना) दोनों तरीके से हो सकती है। सामान्यतया जैन विचारक जिस अर्थ में अहिंसा की बात करते हैं उसमें भावना का विशेष महत्त्व है। यदि हिंसा करने वाले की भावना पवित्र है, कल्याणमित्र की भावना है तो हिंसा दिखायी देने वाला कार्य अहिंसा की कोटि में ही आयेगा। पर्यावरण पर जैन परम्परा की दृष्टि से विचार करने में इस विचार का विशेष महत्त्व है।

पर्यावरण संकट

यहाँ समस्या (problem) और संकट (crisis) में अन्तर स्पष्ट करना उपयोगी है। कोई भी समस्या एक ऐसी अप्रिय स्थिति होती है जो समाधान की अपेक्षा रखती है। समस्या का गम्भीर रूप ही संकट है और तुरन्त समाधान की अपेक्षा रखता है। आज पर्यावरण समस्या ने संकट का रूप धारण कर लिया। इसे हम तीन स्तर पर देख सकते हैं : स्थानीय, क्षेत्रीय और वैश्विक (Local, Regional and Global)। यह विभाजन समस्या से ज्यादा समाधान को ध्यान में रखकर किया गया है। सामान्यतया ध्वनि प्रदूषण, मृदा प्रदूषण, जल प्रदूषण आदि जिस स्थान पर उत्पन्न होते हैं वहाँ इनकी प्रभाविता तीव्र होती है तथा इनको समाप्त करने का स्थानीय उपाय करना

होता है। यह भी उल्लेखनीय है कि पर्यावरण सुधार कार्यक्रम का कोई भी क्रियान्वयन स्थानीय ही हो सकता है और जब यही कार्यक्रम एक साथ कई स्थानों पर चलाया जाता है तो उसका प्रभाव व्यापक (Regional or Global) होता है। कुछ पर्यावरणीय समस्यायें ऐसी होती है जिनका केवल एक स्थान से निदान सम्भव नहीं होता है। उसके लिए क्षेत्रीय प्रयास की आवश्यकता होती है। जैसे नदियों को प्रदूषित होने से बचाने के लिए उस नदी के आस-पास बसे सभी शहरों और गावों में संयुक्त प्रयास की आवश्यकता होती है। उनके लिए पूरे विश्व को एक साथ प्रयास करने की जरुरत होती है। उदाहरण के लिए प्रायः प्रतिदिन हम समाचार पत्रों में पढते हैं कि हमारे वातावरण का तापमान बढ रहा है।[१०] इसके कारण ग्लेशियरों का तेजी से क्षरण हो रहा है जिससे समुद्र के जलस्तर में वृद्धि हो रही है जिसके कारण अनेक द्वीपों का अस्तित्व ही संकट में पड गया है। इसके अलावा आने वाले बीस या पचास वर्षों में दुनिया के अनेक भागों में पानी की कमी जैसी गम्भीर समस्या का सामना करना पड सकता है क्योंकि जल का प्रमुख स्रोत ग्लेशियर ही है और उनके संकुचित होने से सदानीरा नदियों में जल प्रवाह की कमी हो रही है। इस समस्या का मानवीय गतिविधि से सीधा सम्बन्ध है तथा पर्यावरण से जुडी अन्य ग्लोबल समस्याओं में शायद सबसे अधिक चर्चा का विषय है।

वास्तव में जब पर्यावरण संकट की बात की जाती है तो मनुष्य की वह गतिविधि बातचीत के केन्द्र में होती है जिसका पर्यावरण पर घातक असर होता है और उसे रोकना या कम करना मनुष्य की इच्छा पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए जल प्रदूषण प्रमुख रूप से कारखानों द्वारा उत्सर्जित तथा शहरों से बाहर निकलते गन्दे पानी को बिना संशोधित किये नदियों में प्रवाहित करने से होता है। पर्यावरण की समस्या उत्पन्न होने के पूर्व कारखानों की स्थापना करते समय या नालियों में रासायनिक पदार्थ प्रवाहित करते समय शायद ही किसी ने सोचा हो कि यह कृत्य अनेक प्राणियों का जीवन समाप्त कर सकता है। इस उत्सर्जित जल के संशोधन और नियोजन के प्रयास किये जा रहे हैं परन्तु यह अभी तक ऊंट के मुंह में जीरा ही साबित हुआ है। इसी तरह कल-कारखानों की चिमनियों एवं वाहनों से निकले धुंए से प्राणवायु विषाक्त होती है। खेती में रासायनिक उर्वरकों एवं कीटनाशकों के प्रयोग से मिट्टी की उर्वरा शक्ति कम होने तथा कृषिमित्र जैविक कीटों के विनाश जैसी समस्यायें दिखाई दे रही है। कल-कारखानों और वाहनों की आवाज से उत्पन्न

ध्वनिप्रदूषण से तनाव और अनिद्राजनित अनेक रोगों का सामना करना पड रहा है।

क्या पर्यावरण संकट हिंसा का परिणाम है?

पर्यावरण समस्या को जैन परम्परा की दृष्टि से देखने पर यह प्रश्न उठता है कि क्या पर्यावरण की क्षति एक हिंसा है? सामान्य समझ (common understanding) यही है कि पर्यावरण की क्षति करना हिंसा है। परंतु क्या वह कार्य भी हिंसक माना जा सकता है जिसके फलस्वरूप पर्यावरण पर व्यापक निषेधात्मक असर हुआ हो परन्तु ऐसी क्षतिकारित करने की भावना न रही हो? प्रायः अनेक वैज्ञानिक आविष्कार जिज्ञासावश या अचानक (serendipitously) हो जाते हैं। यदि इन आविष्कारों का व्यापक उपयोग पर्यावरण को गम्भीर क्षति पहुंचाता है तो क्या ऐसी जिज्ञासा एक हिंसक कृत्य है? अगर हम जैन विचारकों की इस धारणा को पूर्णतया स्वीकार कर लें कि क्षति कारित करने की भावना ही किसी कार्य को हिंसक ठहराने के लिए उत्तरदायी है तो पर्यावरण पर घातक असर डालनेवाले बहुत से कार्य अहिंसा की कोटि में आ जायेगें। यदि पर्यावरण क्षति कारित करने वाले सभी कार्यों को हिंसक कहा जाय तो पृथ्वी पर जीवन का अस्तित्व ही हिंसा का पर्याय हो जायेगा और अहिंसा बेमानी हो जायेगी। इस दुविधापूर्ण स्थिति (paradoxical situation) से उबरने के लिए दो बातें कही जा सकती हैं। पहली यह कि जैन परम्परा सिद्धान्ततः अहिंसा को निरपेक्ष रूप में स्वीकार करती है। इसके अनुसार वातावरण में चतुर्दिक् जीवों का निवासस्थान है इसलिए इसमें कोई भी गतिविधि किसी न किसी जीव को क्षति पहुँचायेगी। इस अर्थ में पर्यावरण को क्षति पहुँचाना वास्तव में जीवन को क्षति पहुँचाना है इसलिए पर्यावरण की समस्या हिंसा का परिणाम मानी जानी चाहिए। परन्तु जैसा कि पहले कहा गया है इस स्थिति में मानव सहित अनेक प्राणियों का जीवन ही असम्भव हो जायेगा। इसीलिए जैन परम्परा में अणुव्रत का प्रावधान किया गया है, जो कि जीवित रहने के लिए अनिवार्य हिंसा की स्वीकृति देता है। दूसरी बात यह कि ज्ञान-विज्ञान का विकास और उसका व्यावहारिक या व्यापारिक प्रयोग दो अलग-अलग चीजें हैं। ज्ञान के विकास और मानव जीवन को सुखमय बनाने के लिए न्यूनतम मात्रा में हिंसा की स्वीकृति अणुव्रत का भाग माना जा सकता है। परन्तु जब विज्ञान का उपयोग लाभ और लोभ से प्रेरित होता है तो ऐसे कृत्य द्वारा की गयी हिंसा सर्वथा अस्वीकार्य है। आज हमारे सामने पर्यावरण संकट का प्रमुख कारण वास्तव में लाभ और लोभ के वश में प्रकृति का अविचारपूर्वक दोहन करना ही है।

जब हम पर्यावरण संकट को हिंसा का परिणाम कहते हैं तब इसी प्रकार की हिंसा की तरफ हमारा निर्देश होता है।

अहिंसा की चर्चा करते समय जितने प्रकार की हिंसा का उल्लेख किया गया उनमें दो तरह की हिंसा का पर्यावरण की समस्या से सीधा सम्बन्ध प्रतीत होता है ये है उद्यमी हिंसा और संकल्पी हिंसा। इनकी यहाँ पर कुछ विस्तार से चर्चा करना आवश्यक है। पर्यावरण समस्या का सीधा सम्बन्ध मनुष्य की विकास सम्बन्धी अवधारणा से होता है। विकास से सम्बन्धित एक त्रुटिपूर्ण दृष्टिकोण पर्यावरण पर विपरीत असर डालता है।[११] प्राचीन काल में मनुष्य अन्य प्राणियों की तरह ही प्रकृति का एक भाग था। उसकी कोई भी गतिविधि प्राकृतिक असन्तुलन पैदा नहीं कर सकीं क्योंकि उसकी इच्छायें और आवश्यकतायें सीमित थी। परन्तु समय के साथ-साथ मानवीय इच्छा और आवश्यकता में वृद्धि हुई जिसकी पूर्ति के लिए मनुष्य ने विज्ञान और तकनीक का विकास किया। यह भी सत्य है कि वैज्ञानिक अनुसंधानों की वृद्धि हुई जिसकी पूर्ति के लिए मनुष्य ने विज्ञान और तकनीक का विकास किया। यह भी सत्य है कि वैज्ञानिक अनुसंधानों की वृद्धि के साथ-साथ मनुष्य की महत्त्वाकांक्षा और ऊंची होती गयी। फलस्वरूप प्रकृति का दोहन तीव्र से तीव्रतर होता गया और अतिशय दोहन ने आधुनिक युग में पर्यावरण संकट का रूप धारण कर लिया है। इस संकट के पीछे उस यहूदी ईसाई अवधारणा[१२] को बताया जाता है जिसके अनुसार ईश्वर ने मनुष्य को संपूर्ण प्रकृति को अधीन करने का निर्देश दिया है। इसके फलस्वरूप मनुष्य के सम्पूर्ण प्रयास (उद्यम) प्रकृति का एक अंग न होकर उसको नियंत्रित करने की ओर उन्मुख रहा। इसका परिणाम आज पर्यावरण संकट के रूप में हमारे सामने है। परन्तु इस धार्मिक निर्देश पर इतना गंभीर आरोप लगाना मनुष्य की मौलिक प्रवृत्ति को नजरअंदाज करना है। वास्तव में मनुष्य सुखी रहना चाहता है और अपने सुख के लिए भौतिक संसाधनों को जुटाना है। इन संसाधनों से उत्पन्न तात्कालिक सुख का आकर्षण इतना तीव्र होता है कि मनुष्य उनके पाश में बंध जाता है। पर्यावरण में आज जो हम असंतुलन देख रहे हैं वह शायद इसी महत्त्वाकांक्षी मौलिक प्रवृत्ति का परिणाम है। अन्य तथ्य यह है कि यूनानी मस्तिष्क सदैव से बहिर्मुखी रहा है। यूनानी विचारक ही वास्तव में आधुनिक विज्ञान के जन्मदाता है। बहिर्मुखी व्यक्तित्व का बाह्य वस्तुओं में सुख की तलाश करना स्वाभाविक है और इस प्रवृत्ति का परिणाम प्राकृतिक असन्तुलन के रूप में होना नियत है।

तकनीकी ज्ञान के प्रसार ने मानवीय उद्यम के दायरे में वृद्धि कर दी है। इससे प्रकृति के दोहन में तीव्रता आयी है, वनों का तेजी से विनाश, अनवीकृत (non-renewable) ऊर्जा संसाधनों का बढता उपयोग नवीकृत (renewable) संसाधनों का उसके नवीकरण क्षमता से ज्यादा उपयोग आदि इसके प्रमाण हैं। डब्ल्यू.डब्ल्यू.एफ. (World Wide Fund for Nature, initially known as World Wildlife Fund) की द्विवार्षिक रिपोर्ट[१३] के अनुसार मनुष्य ने प्रकृति से व्याज के अलावा मूलधन भी खाना शुरू कर दिया है। और यह उपयोग प्रकृति की पुनरुत्पादन क्षमता से २५% अधिक है जिसके कि इस दर से २०५० ई. तक १००% हो जाने की संभावना है। अतिशय उपभोग के कारण जहाँ जैव विविधता नष्ट हो रही है वहीं मानवीय हित पर दूरगामी असर हो रहा है। रिपोर्ट के अनुसार १९७० ई.से २००३ ई. के बीच विभिन्न जैव प्रजातियों की संख्या में लगभग ३०% की कमी हुई है। मनुष्य के सुरक्षित भविष्य के लिए यह आवश्यक हो गया है संपोष्य विकास (sustanable development) का सिद्धान्त अपनाया जाय जिसके अनुसार प्रकृति से उतना ही ग्रहण करना चाहिए जितना उसकी पुनरुत्पादन क्षमता है।

उपर्युक्त विवेचन के संदर्भ में उद्यमी हिंसा को दो भागों में बांटा जा सकता है, अनिवार्य उद्यमी हिंसा और निवार्य उद्यमी हिंसा। जीवन को सुखी बनाने के लिए किये जा रहे उद्यम के दौरान की गयी हिंसा अनिवार्य उद्यमी हिंसा है तथा जीवन को विलासितापूर्ण बनाने के लिए किये जा रहे उद्यम के दौरान की गयी हिंसा निवार्य उद्यमी हिंसा है । संकल्पी हिंसा भी एक तरह की निवार्य हिंसा है जिससे बिना किसी असुविधा के बचा जा सकता है। परन्तु सुख और विलासिता सापेक्षिक है। कोई वस्तु किसी के सुखमय जीवन के लिए आवश्यक हो सकती है तो वही वस्तु किसी के लिए विलासिता हो सकती है। जैसे कार किसी कंपनी के कर्मचारियों की आवश्यकता हो सकती है तो वही वस्तु किसी के लिए विलासिता होती है। गांधीजी ने सभी विलासितापूर्ण चीजों के उत्पादन और उपभोग को हिंसा माना है। परन्तु इसके लिए उन्होंने जो सूची बनायी वह निर्विवाद नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता और रुचि भिन्न-भिन्न होती है। इसलिए विलासितापूर्ण वस्तुओं की एक सामान्य सूची बनाना जो सभी के लिए समान रूप से स्वीकार्य हो व्यावहारिक रूप से सम्भव नहीं प्रतीत होता है। लेकिन यदि हम विचारपूर्वक अपने आस-पास देखें तो इन चीजों को चिन्हित करना कठिन नहीं है। यदि प्रत्येक व्यक्ति इनकी पहचान

करके इनका उपभोग सीमित या बंद नहीं करता (अपरिग्रह) तो वह कहीं न कहीं उस वस्तु के उत्पादन में की गयी हिंसा के लिए नैतिक रूप से उत्तरदायी है। उदाहरण के लिए हम मोबाईल फोन पर विचार कर सकते हैं। आज चारों तरफ इसकी धूम मची हुई है। विशेष रूप से युवा-वर्ग इसे लेकर कुछ ज्यादा ही उत्साह में है। इनमें से अधिकांश लोग इस बात को नहीं जानते होंगे कि पुराने मोबाइल हैन्ड सेटों का निष्तारण अमेरिका जैसे विकसित देशों में पर्यावरण के लिए एक गम्भीर चुनौती बन चुका है। यदि प्रत्येक मोबाईल धारी ईमानदारी से स्वयं से यह प्रश्न करे कि उसे इस फोन की कितनी आवश्यकता है या यदि वह मोबाईल फोन का प्रयोग न करे तो उसके जीवन में क्या असर होनेवाला है, तो उसे स्वयं पता लग जायेगा कि मोबाईलफोन की उसे कितनी जरूरत है। यदि उसे ऐसा प्रतीत हो कि मोबाइल फोन उसके लिए अनिवार्य नहीं है, तो उसे इसका प्रयोग बन्द कर देना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करता, तो उसे मोबाईल फोनजनित पर्यावरण प्रदूषण के लिए नैतिक रूप से (या सीधे) उत्तरदायी ठहराना उचित होगा।

समाधान : सम्यक्त्व या सम्यकत्रयी

जैन परम्परा सम्यक्त्व दृष्टि विकसित करना ही नैतिक जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानती है। यह दृष्टि तब उत्पन्न होती है जब सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र का समन्वय हो। वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान और उनके प्रति नैतिक आचरण ही इस दृष्टि के मूल में है। ऐसी दृष्टि विकसित होने पर ही यह ज्ञात होता है कि भेद सतही है अभेद ही जीवन का मूल है। जीव-जीव में अन्तर नहीं है। तथाकथित अजीव का भी उतना ही महत्त्व है जितना एक जीव का। किसी न किसी जीव का वासस्थान होने के कारण अजीव तत्त्व से व्यवहार करते समय सावधानी की अपेक्षा की जाती है। इसलिए जैन परम्परा न केवल दृश्यमान जीवधारियों बल्कि सम्पूर्ण प्रकृति के प्रति अहिंसक व्यवहार करने पर बल देती है। समस्त प्रकृति एक जीवित समग्र (an organism or a living whole) है। जिस प्रकार हमारे शरीर के किसी एक अंग की क्षति शरीर की संपूर्ण कार्यप्रणाली को प्रभावित करती है उसी प्रकार प्रकति के किसी विशेष भाग में उत्पन्न विकार सम्पूर्ण प्रकृति के सन्तुलन को प्रभावित करती है।

पर्यावरण संकट को समाप्त करने के लिए जैनियों का यह विचार महत्त्वपूर्ण है कि हमे केवल दिखाई देने वाले हिंसक कार्यों का समाधान नहीं सोचना चाहिए बल्कि

उसके मूल में झांकना चाहिए। मनुष्य का मन और हृदय ही वह स्थान है जहाँ वास्तविक हिंसा का उदय होता है। वैचारिक हिंसा ही समस्त बुरे आचरण की जननी है। इसलिए वैचारिक पवित्रता का विशेष महत्त्व है। हिंसक को समूल नष्ट करने के लिए मानवीय हृदय की मलिनता को दूर करना आवश्यक है। जैन दर्शन में हिंसा को इसके व्यापक अर्थ में लेते हुए इसमें मन, वचन और कर्म तीनों से होने वाली हिंसा को शामिल किया गया है। हिंसा करने के पूर्व मनस् उस पर विचार करता है। यह विचार ही हिंसा का जनक है। जैन दर्शन में हिंसा के विचार को भावहिंसा तथा उसे कार्यान्वित करने को द्रव्यहिंसा कहा गया है। वाणी और कर्म विचार की ही अभिव्यक्ति है। इनके द्वारा वैचारिक हिंसा का ही कार्यान्वयन होता है। इसलिए वैचारिक हिंसा ही मूलहिंसा है। किसी के प्रति अप्रिय या अपमानजनक शब्दों का प्रयोग वाणी की हिंसा है तथा सबसे स्पष्ट कार्मिक हिंसा है जिसमें किसी कार्य के माध्यम से किसी को नुकसान पहुँचाया जाता है। जैन-दर्शन तीन स्थितियों में किसी व्यक्ति के आचरण को हिंसक करार देता है। वह व्यक्ति द्वारा स्वयं किया गया हो (कृत) या दूसरे द्वारा करवाया गया हो। (कारित) या किसी हिंसक कार्य का अनुमोदन किया गया हो (अनुमोदना)।

सामान्यतया हिंसा का मतलब लोग दूसरों के प्रति की गयी हिंसा ही समझते है। जैन दर्शन में एकेन्द्रिय से लेकर बहुरेन्द्रिय जीवों के प्रति जिनका प्रसार सृष्टि के कण-कण में है, किया गया क्रूर व्यवहार हिंसा कहा गया है। अपनी आध्यात्मिक यात्रा में भगवान महावीर ने समस्त प्राणियों के प्रति सहानुभूति, उदारता, जीवन की पवित्रता और विभिन्न दृष्टियों में सामञ्जस्य की आवश्यकता का अनुभव किया और समस्त मानव समुदाय से उसका अनुसरण करने का आग्रह किया। उनका विश्वास था कि समस्त सृष्टि परस्पर निर्भर है एक भाग दूसरे का विरोधी नहीं बल्कि पूरक है एक दूसरे की अपेक्षा रखता है।

जैन मत का मूल्यांकन

पर्यावरण की समस्या एक सामाजिक समस्या है। जैसे परम्परा द्वारा सुझाये गए अहिंसा और अपरिग्रह के मार्ग वस्तुतः व्यक्तिगत आध्यात्मिक उन्नति के लिए उपयुक्त माने जाते हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि व्यक्तिगत मुक्ति के लिए स्वीकृत मार्ग को एक सामाजिक समस्या के निराकरण हेतु कैसे प्रयोग किया जाय। आज के विश्व में जहाँ अनेक मत मतान्तर, सामाजिक सांस्कृतिक विविधता, जीवन-स्तर की

असमानता, असमानता की भावना आदि व्याप्त है वहाँ सभी से यह अपेक्षा करना कहाँ तक व्यावहारिक है कि वे पर्यावरण को स्वच्छ बनाने के लिए समान रूप से त्याग और अहिंसक आचरण करेगें? इसके उत्तर में दो बातें कही जा सकती है। पहली बात यह कि जैन परम्परा आध्यात्मिक और सामाजिक जीवन को एक दूसरे से असम्बद्ध या पृथक पृथक नहीं देखती। आचरण के नियम सबके लिए एक ही हैं चाहे कोई संन्यासी हो या गृहस्थ। अन्तर केवल इतना है कि संन्यासियों से इन नियमों का दृढतापूर्वक पालन अपेक्षित है जबकि सामाजिकों के लिए उनकी विशेष भूमिका के कारण कुछ छूट दी गयी है। दूसरी बात यह कि परम्परा जीवन के सभी रूपों को समान मानती है, एक जीव का दूसरे जीव से कोई गुणात्मक भेद नहीं है। ऐसी मान्यता के कारण एक जीवन किसी अन्य जीवन का साधन बहुत ही संकुचित अर्थ में हो सकता है। जिस प्रकार चर्म और अस्थि के लिए पालतू एवं जंगली जानवरों का विनाश किया जा रहा है तथा भोजन के लिए भूचरों और जलचरों का अतिशय शिकार किया जा रहा है यह जैन मत में सर्वथा अस्वीकार्य है।

आज सम्पूर्ण विश्व को यह अनुभव हो चुका है कि पर्यावरण एक ऐसा कारक है जो किसी राष्ट्र की सीमा नहीं जानता। विश्व के किसी एक भाग में हुआ पर्यावरण क्षरण शेष विश्व को प्रभावित करता है। अनेक विविधताओं के बावजूद संपूर्ण विश्व कम से कम पर्यावरण के मामले में एक (जीवित) इकाई है। जिस प्रकार किसी प्राणी के किसी एक अंग पर लगी चोट उसकी पूरी कार्य क्षमता को प्रभावित करती है उसी प्रकार पृथ्वी के एक भाग में हुआ पर्यावरण असंतुलन आज नहीं तो कल संपूर्ण ग्रह को प्रभावित करेगा। विश्व के अनेक भागों में बार-बार प्रलंयकारी बाढ आने, सूखा पडने, ध्रुवों पर बर्फ पिघलने, ओजोन परत का क्षरण होने, महाद्वीपों पर धुंए का बादल छाने जैसे लक्षण पर्यावरण की गम्भीर दशा का संकेत करते हैं। दुर्भाग्यवश तथाकथित विकास की अन्धी दौड में इन्हें अनदेखा किया जा रहा है। संकट से निपटने की गम्भीरता का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि १९७३ ई. में प्रारम्भ किये संयुक्त राष्ट्र के पर्यावरण सम्बन्धी कार्यक्रम (United Nations Environmental Program-UNEP) को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए प्रायः अनुदान ही उपलब्ध नहीं हो पाता है। शायद हमें विकास सम्बन्धी अवधारणा के साथ-साथ लोगों की मानसिकता बदलने की आवश्यकता है। यह स्पष्ट है कि पर्यावरण का स्वास्थ्य इस बात पर निर्भर करता है कि लोग एक

उपभोक्ता, एक श्रमिक, एक नागरिक, एक अधिकारी, एक पर्यटक, एक निवेशक, एक उद्योगपति के रूप में किस तरह की मानसिकता रखते हैं। लाभ और लोभ की मानसिकता से अन्ततः हानि ही होती है। इसलिए व्यक्ति को कोई भी भूमिका निभाते समय मानवीय भावना रखनी अत्यन्त आवश्यक है। क्षुद्र स्वार्थ एवं उपभोगवादिता की अन्धी दौड में लगे रहने का परिणाम वही हो सकता है जो आज हम भोग रहे हैं। समस्त प्राणी सुखमय रहें तथा पर्यावरण अक्षत रहे इसके लिए संपोष्य विकास के सिद्धान्त को अपनाना आवश्यक है। इसके लिए स्वार्थवादिता और उपभोगतावादी संस्कृति त्यागकर अपनी आवश्यकता को सीमित करना होगा। महात्मा गांधी का मानना है कि संसार हमारी आवश्यकता तो पूरी कर सकता है लेकिन लोभ नहीं शान्त कर सकता। इसलिए जैन परम्परा द्वारा प्रस्तावित अहिंसा और अपरिग्रह के मार्ग पर चलकर ही हम प्राणिमात्र के भविष्य को सुरक्षित रख सकते हैं।

महावीर स्वामी के अनुसार महत्त्व इस बात का है कि हम किस दिशा की ओर बढ रहे हैं। न कि इसका कि आज हम कहाँ खडे हैं। हम जहाँ खडे है वह हमारे पहले के किये कार्यों का परिणाम है, जिसमें हम कोई परिवर्तन नहीं कर सकते हमें इन्हें भोगना ही पडेगा। महत्त्वपूर्ण यह है कि आज हम जिस पर्यावरण संकट से जूझ रहे हैं उससे निपटने के लिए हम कितनी सजगता और ईमानदारी से प्रयास कर रहे हैं। डब्ल्यू.डब्ल्यू.एफ की रिपोर्ट में पांच मुख्य सुझाव दिये गये हैं जो पर्यावरण संरक्षण एवं जैव विविधता के लिए आवश्यक हैं : अ) जनसंख्या नियंत्रण करना एवं परिवार छोटा रखने को प्रोत्साहन देना, ब) उपभोक्तावादी प्रवृत्ति का त्याग एवं जीवन में गुणात्मक सुधार करना, स) उत्पादन में प्राकृतिक संसाधनों का सीमित प्रयोग करना, द) भूमि का उचित प्रबन्धन करना तथा य) मृदा मत्यस्य एवं वन का विशेष संरक्षण करना। यदि हम विचारपूर्वक देखें तो इन सुझावों का आधार जैन परम्परा की अहिंसा और अपरिग्रह की भावना के निकट है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि पर्यावरण संकट का वैश्विक स्तर पर कोई भी समाधान अहिंसा और अपरिग्रह की भावना के अनुरूप ही हो सकता है। यदि हम इस भावना के अनुसार आचरण करने में सफल रहे तो मनुष्य और प्रकृति के बीच वास्तव में वह सम्बन्ध स्थापित हो जायेगा जो कि एक भ्रमर और पुष्प के बीच होता है।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. लक्ष्मी मल्ल सिंघवी (Former High Commssioner of india to UK) ने विश्व वन्यजीवन फंड (World wildlife Fund) के संरक्षण और धर्म पर अन्तर्राष्ट्रीय नेटवर्क (International Network on Conservation and Religion) के लिए प्रकृति पर जैन उद्घोषणा (The Jain Declaration on Nature) शीर्षक से एक लेख लिखा था जिसमें जैन दर्शन की पांच बातों का उल्लेख किया है जिनका पर्यावरण संरक्षण के लिए विशेष महत्त्व है। ये बाते हैं : अहिंसा (Non Violence), परस्परनिर्भरता (Inter-depence) अनेकान्तवाद (The Doctrine of Manifold Aspects), समत्व (Equanimity) और जीव दया (Compassion, Empathy and Charity) यह लेख वेबसाईट http://www.jainworld.com/jainbooks/books/jaindecl.htm/(retrieved on oct o6. 2006) पर उपलब्ध है। प्रस्तुत सूक्त इसी लेख में उद्धृत है।

२. श्वेताम्बर जैन परम्परा के चार मौलिक सूत्र है -आवश्यक सूत्र, विशेष आवश्यवक सूत्र, दशवैकालिक सूत्र और पाक्षिक सूत्र। इनमें आचार विचार के नियमों का विस्तृत उल्लेख है। उद्धृत सूत्र कस्तूर चन्द लालवानी द्वारा अनुदित दसवेयालिय सुत्त, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १९७३, से लिए गये हैं।

३. अनेकान्त सिद्धान्त को वाद कहने पर विवाद है। यह अपने आप में कोई वाद नहीं है बल्कि यह दर्शाता है कि सभी वाद सीमित दृष्टिकोण है और परिप्रेक्ष्य विशेष में ही सत्य हैं न कि निरपेक्ष रूप से। बौद्ध दर्शन का शून्यता सिद्धान्त इसका निषेधात्मक रूप प्रतीत होता है। शून्यता समस्त दृष्टियों में विरोधाभास दिखाकर उनका खंडन करती है परन्तु यह स्वयं में कोई दृष्टि या मत नहीं है। अनेकान्त समस्त दृष्टियों में सापेक्षिक सत्य देखता है परन्तु स्वयं किसी दृष्टि विशेष के अन्तर्गत नहीं आता। इस तरह शून्यता और अनेकान्त कसौटी हैं न कि कसौटी के विषय इसलिए इन्हें वाद कहना एक उपचारमात्र प्रतीत होता है।

४. तर्करहस्यदीपिका आचार्य गुणरत्न द्वारा हरिभद्रसूरि कृत षड्दर्शनसमुच्चय पर टीका है। प्रस्तुत विचार Jadunath Sinha की Indian Philosophy, Vol

II, Motilal Banarasidas Publishers Pvt. Ltd, Delhi : Reprint 1999, से लिए गये है, पृ. १९९।

५. सिंघवी द्वारा उद्धृत op.cit (italics mine)

६. S. Radhakrishnan, Indian Philosophy, Vol. I, Londan George Allen & Unwin Ltd., 1923, p. 58. राधाकृष्णन के अनुसार जैन का जीवविषयक सिद्धान्त न्याय-वैशेषिक के आत्मा सिद्धान्त से मिलता-जुलता है सांख्य के पुरुष से नहीं क्योंकि पुरुष निष्क्रिय है, पृ. २९२। परन्तु जैन मत का जीव न्याय के आत्मा की अपेक्षा सांख्य के पुरुष के अधिक निकट प्रतीत होता है क्योंकि जीव और पुरुष दोनों चेतन स्वरूप है जबकि आत्मा स्वरूपतः अचेतन है। इसके अलावा सांख्य के पुरुष की तरह जीव भोक्ता और असंख्य है, पृ. ३१४। दोनों में प्रमुख अन्तर यह है कि जीव साकार तथा सक्रिय है जबकि पुरुष निराकार और निष्क्रिय।

७. उल्लेखनीय है कि जैन समुदाय व्यापार को अन्य उद्यम की अपेक्षा ज्यादा वरीयता देता है। इसके पीछे शायद यही भावना है कि व्यापार में स्वयं से जीवों के प्रति हिंसा की कम संभावना होती है। आश्चर्य नहीं कि जैन समुदाय दुनिया का सबसे बडा व्यापारिक समुदाय हो।

८. Bhiku Parekh, Theory of Non-Violence. (p.159) in the Theory of Value edited by Roy W. Perrett, New York & Londan Garland Publishig ltd., 2000, pp. 135-166

९. दिल्ली विश्वविद्यालय में अखिल भारतीय अहिंसा संगोष्ठी में दिया गया भाषण जो महावीर : मेरी दृष्टि में पुस्तक के परिशिष्ट (१) में अहिंसा (पृ. ७४१-७६४) शीर्षक से प्रकाशित हुआ है।

१०. उदाहरण के लिए Oct. 26th 2006 के The Hindu, Delhi Edition के सम्पादकीय पन्ने पर A Warming planet शीर्षक से एक लेख प्रकाशित हुआ जिसमें अमेरिकी अंतरिक्ष एजेन्सी से सम्बद्ध गोडर्ड इन्स्टिट्यूट के वैज्ञानिकों का हवाला देते हुए कहा गया है कि वर्ष २००५ ई. पिछले १२००० वर्षों में सर्वाधिक गर्म रहा है। पृथ्वी के तापमान में ०.६°C की वृद्धि पिछले केवल ३० वर्षों में हुई है। और इसका कारण कार्बन आधारित ऊर्जा संसाधनों का अतिशय उपभोग है। गैर-परम्परागत ऊर्जा जैसे - सौर

ऊर्जा, पवन ऊर्जा आदि को विकसित करना ही एकमात्र विकल्प बताया गया है।

११. International Enclopedia of the Social and Behavioural Sciences, ed. Neil J. Smelser and Paul B. Baltes, Vol. 7, Oxford & New York : Elsevier Science Ltd., 2001, p. 4567

१२. Genesis, 1.27 : So God created man in his own image....1.28 : And God blessed them (men), and God said unto them, be fruitful and multiply and replenish the earth, and subdue it, and have domination over the fish of the sea, over the fowl of the air, and over every living thing that moveth upen the earth.

१३. John Vidal, Collapse of Ecosystems likely if Plunder continues The Hindu, Delhi Edi., Oct 26, 2006 p. 11.

जैन आगमों में अपरिग्रह

नीतू बाफना

श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने 'दशवैकालिक सूत्र' अ. ६, गा. ११ में प्ररूपणा की है कि 'सव्वे जीवावि इच्छंति जीविउं न मरिज्जउं-सभी जीव जीना चाहते हैं न कि मरना। यहाँ कौन से जीवन की अपेक्षा है तो भगवान ने 'आचारांग सूत्र' १-श्रु, २-अ, ३-उ में फरमाया कि-'सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्ख पडिकूला'-समस्त प्राणी दुःख के प्रतिकूल सुख की अभिलाषा करते हैं। उस सुखमय जीवन हेतु मनुष्य प्रायः मनोनुकूल विषयों में निरन्तर गतिशील रहते हैं, परंतु उन विषयों में सुख अल्प और बहुधा दुःख ही प्रतिफलित होता है। ऐसा क्यों? क्या अपनाया हुआ मार्ग वास्तविक सुख का कारण न होकर, दुःख का मूलभूत हेतु है? इसका विश्लेषण करते हुए भगवान् ने तथ्य को प्रकट किया कि मनोवांछित विषय आश्रव रूप होने से दुःखजन्य है। इस आश्रव व उसके प्रतिपक्षी संवर का विशद् विवेचन दसवें अंग प्रश्न व्याकरण सूत्र में गुम्फित है।

आश्रव व संवर की परिभाषा ग्रंथकारों ने यह की है कि आश्रव 'आसमन्तात श्रवन्ति प्रविशन्ति कर्माणि येन सः आश्रव' अर्थात् जिन कारणों से आत्मा में कर्म चारों ओर से प्रविष्ट होते हैं वह आश्रव है। 'संव्रियन्ते निरूध्यन्ते कर्म कारणानि ये भावेन संवरः।' यानि आत्मा में जिन कारणों से प्रविष्ट होते हुए कर्म रुक जावें, वह संवर है। आश्रव नवीन क्रमों का प्रवाह, संसार का हेतु है और संवर मोक्ष का यानि संसार क्षय करके अव्याबाध सुख की प्राप्ति।

हिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन और परिग्रह ये पाँच मुख्य आस्रव के भेद हैं और इनके विपरीत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच संवर हैं। सामान्यतया पाँचों ही संवर आत्मगुणों के वृद्धिकरण, उपयोगी, आनंददायक और अन्ततोगत्वा मोक्ष फल के दायक हैं, परंतु यहाँ अपरिग्रह का कथन करना इष्ट है। अतः इसका विवेचन किया जा रहा है।

पाँचों संवरों में मूल भूमिका रूप अपरिग्रह है क्योंकि अपरिग्रह अहिंसा का पोषक है। लोभ बिना द्वेष नहीं होता और द्वेष ही हिंसा का जनक है। अतः फलित हुआ कि लोभ के अभाव में हिंसा नहीं पनपती। यानि हिंसा का नींव रूप सृजक लोभ ही हैं। लोभ या लालचवश मनुष्य धन के अर्जन, संग्रह, संरक्षण में झूठ बोलता है, चोरी करता है और परिग्रह के मद में व्यभिचार करने में भी नहीं हिचकता।

निर्लोभी क्यों झूठ बोलेगा, क्यों चोरी करेगा और वह व्यभिचारी भी क्यों होगा? इन दोनों का ३६ का आँकडा हैं अर्थात् जहाँ प्रकाश है वहाँ ये अंधेरे रूप अवगुण नहीं रह सकते। इसलिए अहिंसा, सत्य, अचौर्य की जड अपरिग्रह है। और आचारांग सूत्र अ. ५, उ २, सूत्र १५५ में कहा है कि जो परिग्रह से विरत है उसमें ब्रह्मचर्य होता है। अर्थात् अपरिग्रही ब्रह्मचारी है।

अपरिग्रह को समझने के लिए परिग्रह का ज्ञान पहले होना आवश्यक है। आगमकारों ने परिग्रह की व्याख्या करते हुए कहा है–'परिगृह्यते आदीयतऽस्मादिति परिग्रहः। मूर्छाभावेन ममेति बुद्ध्या गृह्यते इति परिग्रहः।' किसी वस्तु का समस्त रूप से ग्रहण करना अथवा ममत्व बुद्धि से, मेरेपन की बुद्धि सें मूर्च्छावश जिसे ग्रहण किया जाता है, वह परिग्रह है।

परिग्रह के भेद

अंतरंग भाव परिग्रह को कहते हैं जबकि बाह्य संयोगी पदार्थों का संबंध बहिरंग परिग्रह कहलाता है। बहिरंग परिग्रह अंतरंग परिग्रह का निमित्त है।

अंतरंग परिग्रह

१. मिथ्यात्व

सद्देव, सद्गुरु व सद्धर्म का यथार्थ स्वरूप न जानने से कुदेवादि का श्रद्धान मिथ्यात्व है। जीव-अजीव आदि तत्त्वों का सम्यक् स्वरूप न जानकर उनमें अन्यथा, विपरीत श्रद्धा करना मिथ्यात्व है। बन्धन व मोक्ष के स्वरूप को, इनके कारणों को यथार्थ न समझकर विपरीत मान्यता करना मिथ्यात्व है।

स्व-पर का अथवा जड चैतन्य का यथार्थ स्वरूप न जानकर विपरीत श्रद्धान करना मिथ्यात्व है।

मूल में स्व के प्रति बेभान रहना ही मिथ्यात्व है। अतः यह सभी आश्रव के कारणों में प्रथम व अनंत संसार बढाने का कारण है। यही मुख्य परिग्रह है।

२. क्रोध

यह एक मानसिक किन्तु संवेग की उत्तेजनात्मक अवस्था है। इसकी निम्न अवस्थाएँ हैं - **कोप**-क्रोध से उत्पन्न स्वभाव की चंचलता। **रोष**-क्रोधादि का परिस्फुट रूप। **दोष**-स्वयं पर या 'पर' पर दोष थोपना। **अक्षमा**-अपराध को क्षमा न करना-उग्रता। **संज्वलन**-बार-बार जलना, तिलमिलना। **कलह**-जोर जोर से बोलकर अनुचित भाषण करना। **चाण्डिक्य**- रौद्र रूप धारण करना। **भंडण**-

पीटने, मारने पर उतारू हो जाना। **विवाद**- आक्षेपात्मक भाषण करना।

क्रोध के आवेश में आक्रमण या आक्रमण की तैयारी होती है। मान या अहंकार की रक्षार्थ क्रोध का जन्म होता है। यह एक क्षणिक उफान है। मूल में चैतन्य स्वभाव से अरुचि ही क्रोध से मन में, तन में कंपकंपी छूट जाती है। उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है।

३. मान

अहंकार, अभिमान, अहं, घमण्ड ये मान के पर्यायवाची हैं। इसकी निम्न अवस्थाएँ हैं- **मान**- अपने किसी गुण पर झूठी अहंवृत्ति। **मद** - अहंभाव में तन्मयता। **दप**-उत्तेजनापूर्ण अहंभाव। **स्तम्भ**-अविनम्रता। **गव**-अहंकार। **अत्युत्क्रोश**- अपने को दूसरों से श्रेष्ठ कहना। **परपरिवाद**-दूसरों की निन्दा। **उत्कष**-अपना ऐश्वर्य प्रकट करना। **अपकष**-दूसरों की हीनता प्रकट करना। **उन्नत**-दूसरों को तुच्छ समझना। **उन्नतनाम**-गुणी के सामने भी न झुकना। **दुर्नाम**- यथोचित रूप से न झुकना।

मान के आठ भेद

कुलमद, बलमद, ऐश्वर्यमद, जातिमद, ज्ञानमद, रूपमद, तपमद, अधिकार मद। वैसे मानव में स्वाभिमान की मूल प्रवृत्ति है ही परंतु जब उसमें उचित से अधिक शासित करने की भूख जाग्रत होती है और जब अपने गुणों व योग्यताओं को परखने में भूलकर जाता है तब उसके अन्तःकरण में मान की वृत्ति का प्रादुर्भाव होता है। अभिमान में उत्तेजना वा आवेश होता है। उसे अपने से बढकर या अपनी बराबरी का कोई व्यक्ति दिखता ही नहीं।

४. माया

छल, कपट, धूर्तता, दम्भ आदि माया है। इसकी निम्न अवस्थाएँ हैं- **माया**- कपटाचार। उपाधि-ठगे जाने योग्य व्यक्ति के समीप जाने का विचार। **निकृति**- छलने के अभिप्राय से अधिक सम्मान करना। **वलय**- वक्रतापूर्ण वचन। **गहन**-ठगने के विचार से अत्यन्त गूढ भाषण करना। **नूम**- ठगाई के उद्देश्य से निकृष्टतम कार्य करना। **कल्क**- दूसरे को हिंसा के लिए उभारना। **कुरूप**- निन्दित व्यवहार। **जिम्हता**- ठगाई के लिए कार्य मन्द करना। **किल्विषिक**- भांडों की भांति कुचेष्टा करना। **आदरणता**-अनिच्छित कार्य भी अपनाना। **गूहनता**-अपनी करतूत को छिपाने के लिए प्रयत्न करना। **वंचकता**-ठगी। **प्रतिकुंचनता**- किसी के सरल

रूप से कहे गये वचनों का खंडन करना। **सातियोग**–उत्तम वस्तु में हीन वस्तु मिश्रित करना।

संक्षेप में मन में कुछ, वचन में कुछ और काय में कुछ और ऐसी वक्रता जीवन में होना माया है।

५. लोभ

मोहनीय कर्म के उदय से चित्त में उत्पन्न होने वाली तृष्णा या लालसा लोभ है। इसकी १६ अवस्थाएँ हैं- **लोभ**–संग्रह करने की वृत्ति। **इच्छा**–अभिलाषा। **मूर्च्छा**–तीव्रतम संग्रहवृत्ति। **कांक्षा**–प्राप्त करने की आशा। **गृद्धि**–प्राप्त वस्तु में आसक्ति होना। **तृष्णा**–जोडने की इच्छा, वितरण की विरोध वृत्ति। **मिथ्या**- विषयों का ध्यान। **अभिध्या**- निश्च से डिग जाना। **आशंसना**- इष्ट प्राप्ति की इच्छा करना। **प्रार्थना**–अर्थ आदि की याचना। **लालपनता**- चाटुकारिता। **कामाशा**–काम की इच्छा। **भोगाशा**–भोग्य पदार्थों की इच्छा। **जीविताशा**- जीवन की कामना। **मरणाशा**–मृत्यु की कामना। **नन्दिराग**–प्राप्त सम्पत्ति में अनुराग।

६. हास्य- खिली ठठ्ठा करना, मजाक करना। **७. रति**- आरम्भ आदि असंयम–प्रमाद में राग करना। **८. अरति**–संयम, तप आदि में अरति या द्वेष करना। **९. भय**- इहलोक, परलोक, मरण, वेदना, अजस्मात् भय, आरक्षण भय, अगुप्ति भय। **१०. शोक**–इष्ट वियोग में शोक–विह्वल होना। **११. जुगुप्सा**–ग्लानि होना। **१२. स्त्रीवेद**–पुरुष के साथ रमने का भाव। **१३. पुरुषवेद**- स्त्री के साथ रमने का भाव। **१४. नपुंसकवेद**- स्त्री–पुरुष दोनों के साथ रमने का भाव।

उपर्युक्त चौदह प्रकार का आभ्यन्तर परिग्रह ही निश्चय से भाव परिग्रह है। यही मूल दुःख है।

बहिरंग परिग्रह

केवल चैतन्य आत्म तत्त्व को छोडकर जिन–जिन पदार्थों का संयोग आत्मा के साथ होता है, वे सभी पदार्थ परिग्रह हैं। चूंकि इन वस्तुओं का संयोग होने से वियोग निश्चित होता है अतः वे बाह्य परिग्रह हैं। कर्म भी पौद्गलिक है, शरीर भी पौद्गलिक है, ये दोनों बद्ध परिग्रह हैं और इन्द्रिय भोग्य पदार्थ जिनसे विषय भोगे जाते हैं वे अबद्ध पदार्थ हैं। वे अबद्ध पदार्थ हैं। वे नौ प्रकार के हैं-

१. क्षेत्र- खेत, बाग, बगीचे आदि। **२. वास्त**–भवन, घर, दुकान, बंगला आदि। **३. चांदी**- चांदी के आभूषण या चांदी। **४. सुवण**- सोना या सोने के

आभूषण आदि। ५. **धन**- मोहर, गिन्नी, रुपये-पैसे, सिक्के नोट आदि। ६. **धान्य** - सभी प्रकार का अनाज। ७. **द्विपद** - नौकर, दास-दासी, पक्षी आदि। ८. **चतुष्पद**- गाय, भैंस, घोडा, बैल, बकरी आदि जानवर। ९. **कुप्य** - धातु (सोने-चाँदी के सिवाय) सब प्रकार की ताम्बा, पीतल, स्टील, लोहा, लकडी तथा कपडे की बनी हुई वस्तुएँ।

ये नौ प्रकार के बाह्य परिग्रह हैं।

वैसे 'स्थानांग सूत्र' में भगवान महावीर ने परिग्रह के तीन प्रकार बताये हैं : (१) कर्म परिग्रह (२) शरीर परिग्रह, (३) बाह्य भाण्डमात्र उपकरण परिग्रह।

'उपासक दशांग सूत्र' में परिग्रह के चार भेद भी बताये हैं : **(१) गणिम** - जिनको गिनकर दिया जा सके। **(२) धरिम** - जो वस्तु तोल कर दी जाये जैसे गेहूँ, जौ, मक्का, चावल आदि। **(३) मेय** - जो मापकर दी जाये जैसे कपडा, जमीन आदि। **(४) परिच्छेद** - जो वस्तु परखकर परीक्षा करके दी जाय जैसे हीरा, माणक आदि।

'प्रश्न व्याकरण सूत्र' में परिग्रह के मुख्य रूप से तीस नाम गिनाये हैं -(१) परिग्रह, (२) संचय, (३) चय, (४) उवचय, (५) विधान, (६) संभार, (७) संकर, (८) आदर, (९) पिंड, (१०) द्रव्यसार, (११) महेच्छा, (१२) प्रतिबन्ध, (१३) लोभात्मा, (१४) महर्द्धि, (१५) उपकरण, (१६) संरक्षण, (१७) भार, (१८) सम्पातोत्पादक, (१९) कलिकरण्ड, (२०) प्रविस्तर, (२१) अनर्थ, (२२) संस्तव, (२३) अगुप्ति, (२४) अविवेग, (२५) अविवेग, (२६) अमुक्ति, (२७) तृष्णा, (२८) अनर्थक, (२९) आसक्ति, (३०) असन्तोष।

इस तरह अपरिग्रह एवं परिग्रह के भेद विभिन्न अवस्थाओं से यत्र-तत्र सूत्रों में बताये गये हैं।

राग-द्वेष रूपी आत्म-परिणाम भाव अन्तरंग परिग्रह है और उनसे जो पुद्‌गलों का संचय होता है वह द्रव्य बहिरंग परिग्रह है। आत्मा का शुद्ध परिणाम भाव संवर है जो आते हुए कर्मो का निरूंधक है। भाव संवर में अपरिग्रह मुख्य है जिसकी व्याख्या आगमकारों ने यही की है - 'न विद्यते धमोपकरणादृते शरीरोपभोगाय स्वलोऽपि परिग्रह यस्य स यथा। प्रत्याख्यात परिग्रहे साधौ।' (अभिधान राजेन्द्र कोष, प्रथम भाग।)

न विद्यते परिसमन्तात सुखार्थ गृह्यति इति परिग्रह। यस्या साव-परिग्रह-जिसने

किसी भी प्रकार का पदार्थ शारीरिक सुख हेतु ग्रहण नही किया है। उसे अपरिग्रह कहते है। ऐसे सम्पूर्ण रूप से अपरिग्रही विश्व में पंच महाव्रतधारी श्रमण निर्ग्रन्थ ही हैं। 'आवश्यक सूत्र' में यह उनका पाँचवा महाव्रत है।

श्रमण निर्ग्रन्थ तीन करण, तीन योग से समस्त प्रकार के परिग्रह के त्यागी हैं। फिर भी वे अपने शरीर के निर्वाह के लिए शीत, गर्मी की रक्षा व धार्मिक क्रिया करने हेतु वस्त्र, पात्र, धार्मिक उपकरण आदि रखते ही हैं। क्या यह परिग्रह नहीं है? इसके समाधान में स्वयं चरम तीर्थकर ने 'दशवैकालिक' सूत्र अ. ६, गाथा २१ में प्ररूपणा की है –

ण सो परिग्गहो वुत्तो, णायपुत्तेण ताइणा।
"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो" इह वुत्तं महेसिणो।।

छः कायों के रक्षक ज्ञातपुत्र भगवान महावीर ने अनासक्ति भाव से वस्त्र, पात्र आदि रखने को परिग्रह नहीं कहा है, किन्तु मूर्छाभाव को ही (वस्तु पर आसक्ति रखने को) परिग्रह कहा है। इसी अध्ययन की १९ वीं गाथा में प्रभु ने चेतावनी दी है कि पदार्थ का संग्रह करना तो दूर, सिर्फ संग्रह की इच्छा (मानसिक संकल्प) करने वाला साधु, साधु नहीं वरन् गृहस्थ है –

लोहस्सेस अणुप्फासों, मण्णे अणयरामवि।
जे सिया संणिहिकामे, गिरी पव्वाइए ण से।।

अनेक आगम शास्त्रों में अपरिग्रह सम्बन्धी वर्णन उपलब्ध है परन्तु उसका सांगोपांग विवेचन 'प्रश्नव्याकरण सूत्र' में ही है। इसके पंचम अपरिग्रह संवर द्वार में निम्न बिन्दुओं पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

(१) अन्तरंग परिग्रह से विरति ।
(२) अपरिग्रह का महत्व स्वरूप ।
(३) अपरिग्रह की पहचान ।
(४) अपरिग्रह व्रत को पुष्ट करने वाली पाँच भावनाएँ ।

श्रमण निर्ग्रन्थ समस्त बाह्य परिग्रह का त्यागकर अकिंचन भिक्षु होता है, फिर भी उसके मन में व्यक्त वस्तुओं पर ममता मोह रूप अन्तरंग परिणाम न होवे और दोषों से जागरूक रहने हेतु इस संवर द्वार में ३३ बोलों की प्ररूपणा की गई है जैसे एक प्रकार का असंयम, दो भेद राग, द्वेष इस तरह से एक २ बोल की वृद्धि करते हुए तैंतीसवें बोल में तैंतीस प्रकार की आशातना टालने का निर्देश है। हेय, ज्ञेय, उपादेय रूप इन

बोलों की आराधना करने से अपरिग्रही साधक अपनी मंजिल की ओर निर्विघ्नता से प्रगति करता है।

अपरिग्रह की महिमा और स्वरूप का कथन आगमकारों ने श्रेष्ठ वृक्ष की उपमा द्वारा किया है। महावीर स्वामी के श्रेष्ठ वचनों से प्ररूपित परिग्रह-निवृत्ति ही उसका विस्तार है और सम्यक्त्व ही वृक्ष की मूल है। धृति (धैर्य) ही उसका स्कंध और विनय-नम्रता उसकी वेदिका (थला) है। अपरिग्रह का तीन लोक में विस्तृत यश इसका तना है और पाँच रूप इसकी विशाल शाखायें हैं। अनित्य आदि बारह भावनायें अपरिग्रह वृक्ष की त्वचा (छाल) और शुभध्यान, प्रशस्त योग और ज्ञानरूप पत्ते और अंकुर से यह वृक्ष शोभित है। निर्लोभ आदि गुण रूप फूलों से यह वृक्ष अलंकृत है और शील ही उसका सौरभ है। अनाश्रव नवीन कर्मों का अग्रहण ही उसका फल है। इस अपरिग्रह का बीज मोक्ष का बोधि बीज रूप है और यही उसकी मिना सार रूप है। इस उपमा के अन्त में शास्त्रकार बतलाते है कि मेरू पर्वत के शिखर के चोटी के समान यह मोक्ष जाने के लिए निर्लोभता श्रेष्ठ मार्ग का शिखर रून है, यानि अपरिग्रह मोक्ष के मार्गो में सबसे श्रेष्ठ है।

अपरिग्रही के लिए बहुमूल्य, अल्पमूल्य वस्तुओं का संग्रह न करना, संचित पदार्थ त्याज्य है और प्रासुक एषणीय पदार्थ ही ग्राह्य है। व कौन कौन से दोष टालना, वस्त्र, पात्र आदि कितने रखने का कल्प है। इन सब प्रवृत्तियों के विधि-निषेध रूप आचरण आगम पाठ 'जत्थ न कप्पई.......भायणभंडोगहि उवरगरण' में दृष्टव्य है।

अपरिग्रही व्यक्ति की पहचान उसके समता, क्षमा, सरलता, मृदुता, सत्य आदि गुणों और तदरूप आचरण से प्रतिबिम्बित होती है, जिसका विस्तृत विशद वर्णन मूल पाठ 'एवं से संजते विमुते एगे चरेज धम्मं' में निहित है।

त्यागी के रूप में अपरिग्रही को 'दशवैकालिक सूत्र' अ. २, गाथा ३ में -

जे य कंते विपे भोए, लद्धे विपिट्ठिकुव्वइ।
साहिणे चयइ भोए, से हु चाइत्ति वुच्चइ।।

प्रदर्शित किया है। जो मनोहर प्रिय भोगने योग्य वस्तुओं को प्राप्त कर और भोगने में स्वाधीन होते हुए भी उनकी तरफ पीठ कर देता है अथात् त्याग देता है, वही सच्चा त्यागी अर्थात् अपरिग्रही है।

ऐसे महात्यागी साधक आगम के पृष्ठों में यत्र तत्र चमक रहे हैं। उनमें से दो

उदाहरण 'उत्तराध्ययन' सूत्र के यहाँ प्रस्तुत हैं -

अध्ययन ९ - नमिराज ऋषि-

से देव लोग सरिसे, अंतेउरवगओं वरभोए।
भुंजित्तु नमिराया, बुद्धो भोगे परिच्चयई ।।३।।
मिहिलं सपुर-जणवयं, बलमोरोहं च परियणं सव्वं।
चिच्चा अभिनिक्खंतो, एगंत महिडिओ भवयं ।।४।।

देवलोक के समान काम भोगों, अन्तः पुर, राज्यलक्ष्मी सबको त्याग कर नमिराज ऋषि दीक्षित हो गये।

अध्ययन १४-इषुकार नरेश और उनकी कमलावती रानी-

चइता विउलं रज्जं, काम भोगे य दुच्चए।
निव्विसया निरामिसा, निन्नेहा निप्परिग्गहा ।।४९।।

विशाल राज्य और दुस्तजय काम भोगों को छोडकर राजा और रानी भी विषय आसक्ति से रहित, इच्छाओं से रहित, स्नेह (कुटुम्बीजनों के प्रेम) रहित, बाह्य-अन्तरंग परिग्रह से मुक्त हुए।

आगमज्ञों ने अपरिग्रह व्रत की सुरक्षा हेतु पाँच भावनाओं का निर्देशन किया है। सबसे प्रथम मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों के कर्णगोचर होने पर साधक कैसी दृष्टि रखे, उसका कथन निम्न प्रकार से किया है। श्रोत इन्द्रित की जय करने की भावना -

मणुन्न भद्दएसु ण तेसु समणेणं, सज्जियव्वं, न गिज्झियव्वं,न हसियव्वं,
न मुज्झियव्वं, न विनिग्घायं, आवज्जियव्वं न लुभिधव्वंन, न तुसियत्वं।

मनोज्ञ और प्रिय शब्दों को सुनने पर संयमी को उन पर आसक्ति नहीं रखनी चाहिए और राग भी नहीं करना चाहिए, न गृद्धि भाव रखें और न विस्मयपूर्वक हँसे, उनमें मूर्च्छित न होये न उन पर न्योछावर हो। उनको पाने के लिए ललचाये नहीं और प्राप्ति होने पर प्रसन्नता प्रकट न करें।

अमणन्नु पावएसु ण तेसु समणेणं, रूसियव्वं, न हीलियव्वं,
न निंदियव्वं, नखिसियव्वं न छिदियव्वं, न भिदियव्वं न वहे यव्वं।

अमनोज्ञ और अशुभ पापकारी वचनों को सुनकर श्रमण रोष नही करे, न उनकी हीलना, अवज्ञा, निंदा करे, न उन पर खीझना चाहिए और न उस वस्तु को तोडे (भांगे) भेदन कर भयानक शब्दों में डरायें और न मारपीट करे।

जिस प्रकार श्रोतेन्द्रिय के शुभ-अशुभ शब्दों के कर्णगोचर होने पर समभाव रखने

की शिक्षा दी गई है, वैसे ही चक्षु इन्द्रिय के विषय सुन्दर प्रिय रूप और कुरूप अप्रिय रूप देखकर, मनमोहक सौरभ और दुर्गन्धयुक्त पदार्थों का घ्राण इन्द्रिय के संयुक्त होने पर, मधुर स्वादिष्ट और कडवे नीरस व्यंजनों के रसना इन्द्रिय के संयोग होने पर और कोमल, मृदु और रुक्ष-कठोर पदार्थों के स्पर्श होने पर संयमी अनुकूल संयोग पर हर्ष से आह्लादित न होये और विपरीत प्रसंगों पर डाट फटकार, तिरस्कार, नाक भौंह सिकोडना, घणा नफरत न करता हुआ ऐसा चिन्तन करे कि यह तो पुद्गलों का पूरन गलन धर्मा स्वभाव है, जो पलटता ही रहता है। जो वस्तु आज आकर्षक और लुभावनी है, वही कालान्तर में अदर्शनीय और घृणा का पात्र बन जाती है। युवावस्था में जो शरीर का निखार होता है वही बुढापें में कुरूप हो जाता है। पुद्गलों के गुण धर्म परिवर्तन सम्बन्धी छठे अंग 'ज्ञाताधर्म कथांग' के बारहवे अध्ययन में सुबुद्धि प्रधान ने खाई (नगर के गंदे नाले) के पानी को जो महा दुर्गन्धमय, अशुभ वर्ण, गंध, रसवाला था, उसको प्रयोग द्वारा सुगन्धित, स्वादिष्ट और पथ्य रूप में परिवर्तन कर नृप को आस्वादन कराया। राजा भी उस पानी को पीकर विस्मित हुआ। इसका सुन्दर अनुपम दृष्टान्त है। 'उत्तराध्ययन सूत्र' के ३२ वें अध्ययन में भी प्रभु ने यही भाव दर्शाये हैं। उसका सार निम्न गाथा में निचोड रूप में भर दिया है -

जे सद्द रूब रस गंधमागए, फासे य संपप्प मणुण्णपावए।
गेही पओसं न सरेज्ज पंडिए स होति दंते, विरए, अकिंचणे।।

जो मनोज्ञ शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श की प्राप्ति में राग नही करता और अमनोज्ञ पर द्वेष नही करता, वही पंडित है, विरत, शांत, अकिंचन यानि अपरिग्रही है।

परिग्रह यानि दुष्ट संयोग पर प्रीति-रतिभाव और अनिष्ट पर अप्रीति-अरति भाव ये दोनों ही मानसिक संकल्प, विकल्प, जन्म-मरण रूप संसार है और अपरिग्रह यानि इन भावों से विमुक्त होने या समभाव रखना ही संसार से किनारा करना है। दूसरे शब्दों में, अपरिग्रह मोक्ष का भव्य द्वार है जिसके आराधन से जीव साधक कालान्तर में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होता है।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. Maitra, S. K., Ethics of Hindues, p. 223
२. दशवैकालिक, ६/२१
३. मधुकर मुनि, अपरिग्रह-दर्शन, पृ. ८-९

४. मत्ती, ८ : १९-२०.

५. मत्ती, ४ : ४

६. मत्ती, ६ : २४-२६

७. नीति वचन, २३ : ४

८. नीति वचन, २८ : २२

९. लूका, १२ : ३४

१०. लूका, १२ : १५

११. लूका, १२ : १६-२०

१२. भजन संहिता, ६२ : १०

१३. तिमुथियुस की पत्री, ६ : १०

१४. करिन्थियो की पत्री, ८ : ९

१५. Handerson, C., 'Learning to him Frugally', Span, New Delhi, July, 1979, p. 15.

१६. Amritchandra, Purusarthasidhupayaya, p. III

१७. भागवत, ७/१४/८

१८. मंगल प्रभात, पुस्तक से उद्धृत

१९. सर्वोदय, दिसम्बर, ५२

२०. भूदान-यज्ञ, २१ अक्टूबर १९५५

२१. योगशास्त्र, की गाथा २/१०६

२२. दशवैकालिक, ६/२०

२३. दशवैकालिक, ४/१७

अनेकान्तवाद : सर्वसमावेशी सांस्कृतिक सहभाव का दर्शन

बालेश्वर प्रसाद यादव

१.प्रस्तावना

विश्व के सम्पूर्ण देशों में विभिन्न संस्कृतियों की अनेक धाराएँ अनादि काल से प्रवाहित होती चली आ रही हैं। भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत भी न जाने कितनी चिन्तनधाराएँ प्राचीन से लेकर आज तक अनवरत गतिमान होती हुई विद्यमान हैं। विभिन्न चिन्तनधाराओं के परस्पर भेदोपभेद एवं तन्त्रात्मक वैभिन्य के बावजूद इनका सहभाव (सह–अस्तित्व) अत्यन्त ही विषेशोपम एवं द्रष्टव्य है। प्राचीन आर्यावर्त की भूमि पर उद्भूत होने से लेकर वर्तमान भारत तक पल्लवित एवं पुष्पित विभिन्न संस्कृतियों को दो भागों में प्रमुख रूप से विभाजित किया जा सकता है, जो हैं– वैदिक एवं अवैदिक परम्परा की संस्कृतियाँ। ये दोनों संस्कृतियाँ क्रमश : ब्राह्मण एवं श्रमण परम्परा के रूप में अभिज्ञात हैं। ब्राह्मण परम्परा का प्रवाह वेदों एवं उपनिषदों से प्रारम्भ होकर नाना पुराणों, रामायण, महाभारत एवं आस्तिक सम्प्रदाय के षड्दर्शनों से होते हुए आधुनिक हिन्दू धर्म की परम्परा एवं संस्कृति तक प्रस्तृत है। श्रमण परम्परा भी उतनी ही प्राचीनता लिए हुए जैन, आजीवक, चार्वाक एवं बौद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों से होते हुए इनके अद्यतन परिवर्तित रूपों में परिलक्षित होते हैं। ब्राह्मण एवं श्रमण चिन्तनधारा की तत्त्वमीमांसा के प्रभेदक पृथक्–पृथक् रहे हैं।[१] इसी प्रकार इनकी ज्ञानमीमांसा एवं आचारमीमांसा में भी पर्याप्त भिन्नताएँ रही हैं। इन चिन्तनधाराओं के अन्तर्गत भी स्वयं के अन्तर्विरोध एवं तदनुरूप तत्त्वमीमांसीय, ज्ञानमीमांसीय एवं आचारमीमांसीय भिन्नताएँ अत्यन्त ही उत्कट रूप में परिलक्षित होती हैं। इन्हीं चिन्तनधाराओं के अन्तर्गत श्रमण परम्परा में परिगणित जैन दर्शन में जिस प्रकार की तत्त्वमीमांसा का विकास हुआ है उससे तत्त्व के बहुत्ववादी होने का प्रमाण उपलब्ध होता है। इसे ही जैन दर्शन में 'अनेकान्तवाद' नाम के विशिष्ट दार्शनिक पद से अभिहित किया जाता है। वैसे तो इस पद को जैन दर्शन में केवल तत्त्व की संख्यात्मक एवं गुणात्मक विषेशताएँ बताने के कारण ही चिन्हित किया गया है, परन्तु इसकी सम्पूर्ण अर्थवत्ता इसे तब प्राप्त होती है जब इसका प्रयोग इस दर्शन की ज्ञानमीमांसीय एवं आचारमीमांसीय परिप्रेक्ष्यों में भी होता है। अनेक तत्त्वों के अस्तित्व को स्वीकार करने के कारण यह दर्शन अनेकान्तवादी है। इसके

समानान्तर तत्त्व को बहुल रूप में ज्ञात कराने वाला सिद्धान्त स्याद्वाद कहलाता है। जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा के इस सिद्धान्त का कथ्य एवं लक्ष्यार्थ केवल तत्त्व तक ही सीमित कर देना अनेकान्तवाद एवं जैन दर्शन को एक सीमा तक सीमित कर देने जैसा होगा। इस सिद्धान्त को परिपूर्ण अर्थवत्ता तभी प्राप्त हो सकती है जब इसका उपयोग समाज एवं नीति दर्शन के परिप्रेक्ष्य में बहुलवादी सांस्कृतिक सह-अस्तित्व के आधार-सिद्धान्त के रूप में भी किया जाय। प्रस्तुत शोध-आलेख में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि जैन दर्शन के तत्त्वमीमांसा को चित्रित करने वाला यह सिद्धान्त (अर्थात् 'अनेकान्तवाद') समाज एवं आचारमीमांसा के क्षेत्र में भी सर्वसमावेशी सांस्कृतिक सहभाव (सह-अस्तित्त्व) का दर्शन है। कहने का तात्पर्य है कि यह सिद्धान्त न केवल भारत अपितु सम्पूर्ण विश्व के सभी विचारधाराओं का सम्यक् सम्मान करते हुए सभी संस्कृतियों के शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व में विश्वास करता है जो आज के अशांत विश्व की आत्यंतिक आवश्यकता है। आज सम्पूर्ण विश्व में धन, बल, ज्ञान, सैन्य-शक्ति, धर्म, जाति, प्रजाति आदि के नकारात्मक प्रयोग एवं वर्चस्व के द्वारा स्वयं की संस्कृति को सर्वोत्कृष्ट एवं अन्य को नकारने या सर्वदा-उच्छेद के लिए परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से जंग जैसी स्थिति चल रही है। सबको साथ लेकर चलने का अभाव मनुष्यों के प्रथम सांगठनिक इकाई परिवार से लेकर राष्ट्र तक में दिख रहा है। हर जगह असंतोष एवं अलगाव की चिन्गारी सुलगती दृष्टिगोचर हो रही है। मनुष्यों एवं उनके द्वारा निर्मित संस्कृतियों के परस्पर संघर्ष के कारण सहभाव या सह-अस्तित्व के समक्ष आसन्न संकट को देखते हुए जैन दर्शन के तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त अनेकान्तवाद का नीति एवं समाज दर्शन में अनुप्रयोग के द्वारा उपर्युक्त समस्या का इस आलेख में एक बौद्धिक समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

२. अनेकान्तवाद

भारतीय चिन्तनधारा के प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय में स्वयं की विशिष्ट पहचान उसके तत्त्व, ज्ञान एवं आचार सम्बन्धि सिद्धान्तों के कारण है। श्रमण परम्परा के अंग जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा अनेक तत्त्वों के अस्तित्व को स्वीकार करने के कारण अनेकतत्त्ववादी या बहुत्ववादी है जिसे 'अनेकान्तवाद' के विशेष पद द्वारा अभिहित किया गया है। इसमें 'अन्त' नामक पदांश का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ 'वस्तु' और 'धर्म' दोनों है। कहने का तात्पर्य यह है कि जैन मत में यह मान्यता है कि इस

जगत् में वस्तुएँ तो अनेक हैं ही, साथ ही उन वस्तुओं के धर्म भी अनेक हैं। इस प्रकार जैन दर्शन तत्त्व को अनन्तधर्मात्मक मानता है क्योंकि प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं।[२] यहाँ 'धर्म' शब्द गुण, लक्षण या विशेषता के अर्थ में आया है। 'अनेक' पद का अर्थ है- एक से अधिक। इस प्रकार 'अनेकान्तवाद' पद यद्यपि कोशीय अर्थ में नकारात्मक है, पदार्थ की दृष्टि से नकारात्मक नहीं है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार, "अनेकान्त शब्द जैनागमों में उपलब्ध नहीं है। यह शब्द सर्वप्रथम दार्शनिक सिद्धान्तों के रचनाकाल के आरम्भ में पाया जाता है। संभवतः सिद्धसेन दिवाकर पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इसका प्रयोग किया।"[३] इससे यह स्पष्ट है कि तत्त्व के स्वरूप को लेकर जब विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में मतभेद गह्वर हो गये तब जैन दर्शन ने सर्वसमावेषी सिद्धान्त के रूप में 'अनेकान्तवाद' का आविष्कार कर एक सर्वमान्य तत्त्वमीमांसा उपस्थापित करने का प्रयास किया।

जैन दर्शन द्रव्य के दो प्रकार के धर्म को स्वीकार करता है- स्वरूप धर्म एवं आगन्तुक धर्म। इस तरह जैनाचार्यों ने द्रव्य को परिभाषित करते हुए कहा है कि द्रव्य वह है जिसमें स्वरूप धर्म और आगन्तुक धर्म पाये जाते हैं। स्वरूप धर्म द्रव्य के अपरिवर्तनशील एवं नित्य लक्षण को कहते हैं जिसके अभाव में द्रव्य का अस्तित्व सम्भव नहीं है। यथा, चेतना जीव का स्वरूप धर्म है; मृत्तिका घट का स्वरूप धर्म है। आगन्तुक धर्म द्रव्य के परिवर्तनशील लक्षण है। ये लक्षण द्रव्य में आते हैं और चले भी जाते हैं। इनके अभाव में भी द्रव्य अपने अस्तित्व को बनाये रख सकता है। उदाहरणार्थ- सुख, दुःख, इच्छा, संकल्प आदि जीव के आगन्तुक लक्षण या धर्म हैं जबकि रंग, रूप आकारादि घट-पटादि के आगन्तुक धर्म हैं। जैन दर्शन स्वरूप धर्म को गुण (अट्रीब्युट) एवं आगन्तुक धर्म को पर्याय या विकार (मोड) कहता है। एतत्प्रकार जैन मतानुसार, द्रव्य वह है जो गुण एवं पर्याय वाला हो।[४] भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के तत्त्वमीमांसीय विकास के आरम्भ में विभिन्न दर्शनों के तत्त्वविचार भिन्न-भिन्न थे जिनमें सार्वभौम एकता का स्पष्ट अभाव था। कुछ दर्शन तो ऐसे थे जो तत्त्व के स्वरूप को परम नित्य मानते थे और कुछ अन्य उसे परम क्षणिक या अनित्य मानते थे। सांख्य दर्शन में प्रकृति को नित्य एवं परिणामी दोनों माना गया है, परन्तु पुरुष तत्त्व को परम नित्य माना गया है जिसका विकार या परिणाम नहीं होता। वैशेषिक दर्शन के अनुसार पृथ्वी तत्त्व कारणरूप में नित्य तथा कार्यरूप में क्षणिक या अनित्य है, परन्तु आत्मा, ईश्वर एवं आकाश में कोई परिणाम

या विकार नहीं है। बौद्ध दर्शन 'अर्थक्रियाकारित्व' को सत् का लक्षण मानता है, जबकि अद्वैत वेदान्त 'त्रिकालाबाधित्वता' को सत् का लक्षण स्वीकार करता है। बौद्ध दर्शन नित्यता की अवधारणा को स्पष्टरूपेण अस्वीकार कर देता है, जबकि अद्वैत वेदान्त का 'ब्रह्म' कूटस्थ नित्य तथा 'माया' सत्-असत्- अनिर्वचनीया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भिन्न-भिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में तत्त्व के स्वरूप एवं संख्या को लेकर गंभीर विवाद है जो सार्वभौम स्वीकार्यता के अभाव में अनावश्यक रूप से विवाद का केन्द्र बना हुआ था। ऐसे में, जैन दर्शन में तत्त्व के स्वरूप एवं संख्या को लेकर एक सर्वस्वीकार्य सिद्धान्त 'अनेकान्तवाद' के रूप में आया जो तत्त्व के स्वरूप को उत्पत्ति, विनाश एवं स्थिति- इन तीनों रूपों में स्वीकार करता है। अर्थात् 'द्रव्य वह है जो सत् हो' तथा 'सत् वह है जो उत्पाद, व्यय (विनाश) एवं ध्रौव्य (नित्यत्व) युक्त हो'।[५] द्रव्य के इन तीनों विशेषताओं में कोई आत्मविरोध नहीं है, अपितु तीनों व्यवहार्यता की दृष्टि से परीक्ष्य हैं क्योंकि गुण की दृष्टि से द्रव्य में एकता, सामान्यत्व एवं नित्यता की सिद्धि होती है और पर्याय की दृष्टि से अनेकता, विशेषत्व एवं अनित्यता की। इस प्रकार जैन मत में एकान्तवाद की दृष्टि से नित्य या अनित्य के रूप में सत् के लक्षण को स्वीकार नहीं किया गया है। अर्थात् द्रव्य कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य। गुण सापेक्ष वह नित्य है तथा पर्याय सापेक्ष अनित्य है। इस प्रकार सत् को नित्य, अनित्य, चेतन, अचेतन, कूटस्थ और क्षणिक सभी प्रकार से स्वीकार करने वाले तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त को अनेकान्तवाद कहते हैं।

वास्तव में जैन दर्शन सर्वसमावेशी दार्शनिक चिंतन को प्रश्रय देता है। इसके अनुसार एकान्तवाद किसी एक दृष्टिकोण का ही समर्थन करता है। यह या तो सामान्य या विशेष के रूप में मिलता है; या तो कभी सत् या असत् के रूप में उपस्थित होता है; कभी तत्त्व निर्वचनीय या अनिर्वचनीय के रूप में, तो कभी हेतु या अहेतु के समन्वय के रूप में स्वीकार होता है। इस प्रकार अनेक सिद्धान्तों के रूप में एकान्तवाद अपने को दार्शनिक 'वाद' के रूप में उपस्थापित नहीं कर पाता है। पर्याप्त व्यवहार्य एवं सार्वभौम स्वीकार्य तर्कों के अभाव में सभी एकान्तवादी दृष्टिकोण वाले मतवाद परस्पर शत्रुता भाव से संबंधित होकर नकारात्मक तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, समाज एवं नीतिमीमांसा का निर्माण कर डालते हैं जिससे समाज में संघर्ष एवं वर्चस्व की अंध होड़ शुरू हो जाती है। वास्तव में जैन दर्शन की दृष्टि में प्रत्येक धर्म या मत की एक मर्यादा है जो स्वयं की विशिष्टोपपन्न तर्क से उद्भासित है। उसका उल्लंघन न

करके उसे भी यथोचित स्थान देना ही सत्य के साथ न्याय करना है। जो व्यक्ति इस बात को न समझकर अपने आग्रह को ही जगत् का तत्त्व मान लेता है वह तत्त्व के सम्पूर्ण या दूसरे पक्ष की अवहेलना करता है। व्यक्ति स्वयं के एकान्तवादी आग्रह के कारण वस्तु के एक पक्ष को सर्वथा सत्य मान लेता है तथा दूसरे पक्ष को अस्वीकार कर देता है। एतत्कारणेन वस्तु की संपूर्णता का ज्ञान अपूर्ण रह जाता है। एक ही वस्तु में परस्परापेक्षी एवं आत्यन्तिक विरोधी दोनों ही गुण रह सकते हैं, क्योंकि एक वस्तु एक ही साथ कई गुणों या धर्मों का आश्रय बन सकती है। यही समझ अनेकान्तवादी दृष्टिकोण से युक्त कहलाती है। इस तत्त्वमीमांसा का यदि प्रयोग ज्ञानमीमांसा, आचारमीमांसा, सामाजिक वैचारिकी, मनोविज्ञान, सत्ताविज्ञान एवं अन्य समावेषी अध्ययन क्षेत्रों में किया जाय तो 'अनेकान्तवाद' को उसके सम्पूर्ण अर्थवत्ता के साथ समझा जा सकता है। अनेकान्तवाद को समझने के लिए जैन दर्शन में विकसित ज्ञानमीमांसा का प्रयोग अब हम अग्रवत् करेंगे।

३. अनेकान्तवाद और स्याद्वाद

जैन दर्शन में 'स्याद्वाद' का विकास 'अनेकान्तवाद' को समझाने वाले उपकरण-सिद्धान्त के रूप में हुआ है। यह सिद्धान्त एक प्रकार से मानवीय ज्ञान की सीमा रेखा को भी इंगित करता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता पृथक्-पृथक् एवं सीमित है। कोई भी व्यक्ति वस्तु के सभी धर्मों का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। यह पर्याप्त सम्भव है कि कोई विशिष्ट लक्षण या धर्म किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा जाना जाय और अन्य दृष्टिकोण का ज्ञान किसी अन्य व्यक्ति विशेष द्वारा हो क्योंकि वस्तु तो अनन्तधर्मात्मक है और सभी धर्मो का ज्ञान होना किसी एक मनुष्य के द्वारा सम्भव नहीं है। मनुष्य जैसे-जैसे ज्ञान प्राप्त करता जाता है, वैसे-वैसे उसका कथन भी करता जाता है। यह सम्भव है कि एक ही वस्तु में दो विरोधी धर्म उपस्थित हों और उनका पृथक्-पृथक् देश-काल- परिस्थिति में ज्ञान हो रहा हो। ऐसी स्थिति में हम 'स्यात्' पद का प्रयोग करते हुए कथन को उपस्थापित करने का प्रयास करते हैं। इसका लाभ यह होता है कि हम आत्यन्तिक सत्य का दावा नहीं कर पाते। हमारे ज्ञान का प्रत्येक कथन एक 'नय' कहलाता है जिसमें केवल एक आंशिक सत्य को ही अभिव्यक्त करने की क्षमता रहती है क्योंकि किसी व्यक्ति का एक कथन पूर्ण नहीं होता, वह केवल सापेक्ष हो सकता है जिसका कथन किसी एक 'नय' के द्वारा हो सकता है। जैन दर्शन के अनुसार यह कथन करना कि 'यह स्यात् सत् है', प्रमाण

तो है, परन्तु इसके द्वारा ज्ञान की आंशिकता और सापेक्षता ही प्रकाशित होती है।[६] इस प्रकार जैन दर्शन की मान्यता है कि किसी भी ज्ञानात्मक कथन के पूर्व 'स्यात्' पद का प्रयोग न करना ज्ञान की निरपेक्षता तथा ऐकान्तिकता का उपाख्यान करना है, जो मिथ्या एवं भ्रामक है। जैन मतानुसार इसे न मानने से एवं अपने-अपने दुराग्रहों पर अडिग रहने के कारण ही धार्मिक उन्माद एवं दार्शनिक विवाद देखने को मिलते हैं। स्वयंनिर्णित आंशिक एवं सापेक्ष सत्य को परमसत्य मानना तथा अन्य-प्रतिपादित आंशिक सत्य को अस्वीकार करना ही संघर्ष, असंतोष एवं कलह को जन्म देना है। इससे अनेकान्तता एवं वस्तु के अनेकधर्मात्मकता का अपलाप होने से सह-अस्तित्व या सहभाव की भावना समाप्त हो जाती है। इस सम्बन्ध में ऐकान्तिक मत के कारण उत्पन्न विवाद की स्थिति का वर्णन हाथी के स्वरूप के ज्ञान के सम्बन्ध में अलग-अलग अन्धों के द्वारा प्रस्तुत विभिन्न कथनों के पारस्परिक विरोध का उदाहरण जैन मत में प्रस्तुत किया गया हैं। यथा, एक अन्धे ने हाथी के पैर को छुआ और कहा- 'हाथी खम्भे के समान है'; दूसरे अन्धे व्यक्ति ने कान को छूकर कहा- 'हाथी सूप के समान है'; तीसरे ने सूंड़ को छूकर कहा- 'हाथी एक विशाल अजगर है'; इस प्रकार चौथे ने पूँछ छूकर हाथी को रस्सी, पाँचवे ने पेट का हिस्सा छूकर दीवार कहा और अपने-अपने कथन के दुराग्रहवश आपस में लड़ने लगे। प्रत्येक अन्धे व्यक्ति का कथन आंशिक रूप से सत्य है, परन्तु सम्पूर्णता में वह सत्य नहीं। जैन मत का मानना है कि व्यक्तियों का दुराग्रह इसी प्रकार धार्मिक एवं दार्शनिक असहिष्णुता को उत्पन्न कर देता है जो सहभावन के लिए खतरे की घण्टी होती है।

उपर्युक्त इन्हीं कारणों से जैन मतानुसार प्रत्येक कथन-रूप 'नय' के पूर्व में 'स्यात्' पद का प्रयोग अनिवार्य है। जैन दर्शन 'स्यात्' का अर्थ 'कथंचित्' के रूप में करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी एक दृष्टि से वस्तु 'इस प्रकार से' कही जा सकती है और किसी अन्य दृष्टि से वस्तु को 'इस अमुक प्रकार से' कहा जा सकता है। स्यात् पद निरपेक्षता का अपघटन कर सापेक्ष की अभिव्यक्ति कर देता है। 'स्यात् यह सत् है'- इस कथन का तात्पर्य यह है कि 'सापेक्षतया यह सत् है'। इसी 'स्यात्' पद के प्रयोग के कारण इस सिद्धान्त का नाम 'स्याद्वाद' पड़ा है। यह स्थाद्वाद वस्तु के अनन्त धर्मात्मक चरित्र का कथन है।[७] जैन दर्शन के ग्रन्थ स्याद्वादमंजरी में भी इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है कि 'स्यात्' पद नामक अव्यय अनेकान्त का द्योतक है, अतएव 'स्याद्वाद' को 'अनेकान्तवाद' कहते हैं।[८]

इस प्रकार स्पष्ट है कि अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद दोनों ही एक ही कथ्य को प्रकाशित करने वाले अलग-अलग सिद्धान्त हैं। अनेकान्तवाद तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से जबकि स्याद्वाद ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से अपना-अपना महत्त्व रखते हैं। जैन मत के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० मोहनलाल मेहता का मानना है कि प्रयोग की दृष्टि से 'स्याद्वाद शब्द अधिक प्राचीन है, क्योंकि आगमों में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग देखने में आता है।[९] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन का यह उदार एवं सहिष्णु सिद्धान्त-द्वय न केवल विभिन्न भारतीय दार्शनिक एवं धार्मिक सम्प्रदायों, अपितु सम्पूर्ण विश्व के समक्ष एक ऐसे आदर्श की प्रस्तुति करते हैं जिनमें सर्वसमावेशी सांस्कृतिक सहभावन के तत्त्व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं।

४. अनेकान्तवाद : सर्वसमावेशी सांस्कृतिक सहभाव के दार्शनिक आधार

जब हम किसी दार्शनिक सम्प्रदाय का अध्ययन करते हैं तब उसकी ज्ञानमीमांसा एवं तदनुरूप तत्त्वचिन्तन का सम्यक् अवलोकन करते हैं। तत्पश्चात् हम उस तत्त्वमीमांसा के सानुकुल एक नीतिमीमांसा की भी परिकल्पना करते हैं और उसकी व्यवहार्यता के द्वारा उस सिद्धान्त की सफलता का आकलन करते हैं। इस परीक्षण के अनुक्रम में जैन दर्शन का तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त जो 'अनेकान्तवाद' के रूप में पूर्व में उल्लिखित एवं विश्लेषित हो चुका है, अपने समानांतर ज्ञान-सिद्धान्त- 'स्याद्वाद' के रूप में भी परीक्षणोतीर्ण हो चुका है। अब इस खण्ड में इस सिद्धान्त की व्यवहार्यता का परीक्षण नीति एवं समाज दर्शन के क्षेत्र में अवलोक्य है जिसका निहितार्थ विभिन्न विरोधाभासों के बाद भी भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के सह-अस्तित्व एवं सह-जीवन हेतु सर्वसमावेशी सिद्धान्त के रूप में विचारणीय है।

४.१ सहभाव (सह-अस्तित्व)

दृश्य प्रकृति के स्वभाव में ही विरोधी तत्त्व विद्यमान हैं, परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि प्रकृति के अन्दर ही सैकड़ों-लाखों विरोधाभासों के बावजूद सह-अस्तित्व या सहभाव का नियम है। वहाँ बहुलता है; सर्वसमावेशी भावना है, क्योंकि जीवन के लिए परस्पर निर्भरता (परस्परोपग्रहो जीवनम्)[१०] की अत्यन्त आवश्यकता होती है। सम्पूर्ण जगत् या प्रकृति परस्पर-निर्भरता एवं सहभाव के नियम से संचालित है। यही उसकी वैविध्यपूर्ण एकता का सौन्दर्य है। प्रतिपक्षता को प्रकृति का स्वाभाविक गुण मान लेने से अनेकान्तवादी दृष्टिकोण का उदय होता है जिसके फलस्वरूप शांतिपूर्ण सहभाव की भावना जागृत होती है। अनेकान्तवाद के मूल में तीन बातें

प्रमुख हैं- पहली सापेक्षता, दूसरी समन्वय एवं तीसरी सहभाव या सह-अस्तित्व की भावना। इस जगत् में यत्किंचित् है, उसका प्रतिपक्ष भी अवश्य है (यत् सत् तत् सप्रतिपक्षम्)। उदाहरणार्थ, समस्त प्रकृति में जड़ एवं चेतन का समन्वय एवं सहभाव है जबकि वे दोनों ही आत्यन्तिक विरोधी तत्त्व हैं। शरीर जड़ है; आत्मा चेतन है, परन्तु दोनों का समन्वित सह-अस्तित्व है। तद्वत् चिरस्थायी एवं क्षणभंगूर, समान और असमान, दु:ख और सुख, दिवा और रात्रि, प्रजातंत्र एवं राजतंत्र, एकत्ववाद और अनेकत्ववाद आदि प्रतिपक्षी युग्म सम्पूर्ण विरोधों के उपरान्त भी सहभाव में स्थित रहते हैं। इन युग्मों की वास्तविकता एवं जागतिक उपयोग न जानने के कारण ही विवाद एवं विषाद की स्थिति उत्पन्न होती है।

धार्मिक एवं दार्शनिक मतवादों में मतभेद के कारण व्यक्तियों के एकांगी प्रतिपादन की कुण्ठित दृष्टि सहभावन की भावना को कमजोर करने लगती है। जब व्यक्ति दूसरे पक्ष का सुनता नहीं, केवल अपनी ही बात मनवाने या थोपने की इच्छा रखता है तब समन्वय या सहभाव की स्थिति समाप्त हो जाती है। जब 'तू' या 'मैं' की भावना प्रबल हो जाये, तथा 'तू' और 'मैं' की भावना शिथिल पड़ जाये तभी संघर्ष उठ खड़ा होता है। संसार के बड़े से बड़े युद्ध का कारण यही छोटा-सा 'तू' या 'मैं' रहा है। इसे तार्किक ढंग से निम्नवत् देखा जा सकता है : 'या तो 'तू' रहेगा या 'मैं' रहूँगा' = त या म = त X म

इस तर्कवाक्य का अन्तिम निष्पादन 'एकतत्त्ववाद' या 'ऐकांगितावाद' के रूप में परिलक्षित होता है जो जैन दर्शन को स्वीकार्य नहीं है, जबकि इसी के स्थान पर यदि यों कहा जाय :

'तू' रहेगा और 'मैं' भी रहूँगा' = त व म = त   म

तो इस तर्कवाक्य के अन्तिम निष्कर्ष से यह स्पष्ट हो जाता है कि हम दोनों का अस्तित्व होगा; यहाँ सह-अस्तित्व का बोध हो रहा है, अर्थात् इससे वाक्य में अनेकान्तवादी दृष्टिकोण समाहित होने का पता चलता है।

जैन दर्शन के अनेकान्त दृष्टि को अपनाकर समस्त विरोधों का शमन सम्भव हो सकता है। "परस्पर विरोधी माने जाने वाले धर्मों का एक ही द्रव्य में अविरोधी समन्वय करना अनेकान्तवाद की देन है"[११] अनेकान्तवाद से सहभाव या सह-अस्तित्व की भावना जागृत होती है जिससे सहिष्णुता एवं विचार की स्वतंत्रता के लिए पर्याप्त अवकाश उपलब्ध हो जाता है। जैन मत के इस सिद्धान्त के द्वारा

तत्कालीन दार्शनिक मतवादों के परस्पर भेदों के शमन हेतु समन्वित वैकल्पिक सिद्धान्तों को देखा जा सकता है। यथा, संग्रहनय के द्वारा वेदान्त दर्शन, ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से बौद्ध दर्शन, द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से सांख्य दर्शन तथा द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय के संयुक्त दृष्टिकोण से वैशेषिक दर्शन के परस्पर भेदोपभेदों का शमन कर एक उदार एवं सहिष्णु दृष्टिकोण के रूप में नवोन्मेषी विचारधारा को लाया जा सकता है, परन्तु यह अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद के प्रविधियों द्वारा ही सम्भव है। अनेकान्त की दृष्टि विकसित कर लेने के पश्चात् व्यक्ति आत्मवत् सर्वभूतों को महत्त्व प्रदान करने लगता है। वहाँ, तब उसका न किसी से राग रह जाता है और न किसी से द्वेष।[१२] सबके प्रति अनेकान्त दृष्टि को महत्त्व देने से व्यक्ति 'आत्मतुल्य भाव रखे' (आय तुले पयासु)[१३], ऐसा भगवान् महावीर ने उपदिष्ट किया है। इन दृष्टियों के मूल में अनेकान्त की भावना है। इस प्रकार हम यह अनुभव कर सकते हैं कि जैन मत में अनेकान्तवाद का सिद्धान्त सांस्कृतिक सहभाव हेतु आवश्यक तत्त्व या मूलाधार है।

४.२ अहिंसा की वैचारिकी

जैन दर्शन ने अहिंसा को जितनी सूक्ष्मता से ग्रहण किया है उतनी सूक्ष्मता अन्यत्र कहीं भी नहीं देखी गयी है। अहिंसा की वैचारिकी का मूल भी जैन दर्शन का अनेकान्तवादी तत्त्वचिन्तन ही है। जैसा कि प्रसिद्ध जैन विद्वान् डॉ० मोहनलाल मेहता ने लिखा है : ''अहिंसामूलक आचार एवं अनेकान्तमूलक विचार का प्रतिपादन जैन विचार धारा की विशेषता है।''[१४] वह पुनः इसके महात्म्य को बताते हुए लिखते हैं : ''जैनाचार का प्राण अहिंसा है। अहिंसक आचार एवं विचार से ही आध्यात्मिक उत्थान होता है जो कर्ममुक्ति का कारण है।......... अहिंसा का मूलाधार आत्मसाम्य है। प्रत्येक आत्मा- चाहे वह पृथ्वी सम्बन्धी हो, चाहे उसका आश्रय जल हो, चाहे वह कीट अथवा पतंग के रूप में हो, चाहे वह पशु अथवा पक्षी में हो, चाहे उसका वास मानव में हो- तात्त्विक दृष्टि से समान है।''[१५] जैन तत्त्वमीमांसा में अनेकान्तवाद को इतना अधिक महत्त्व देने के कारण ही हिंसा को सर्वथा- मनसा, वाचा एवं कर्मणा प्रतिवारित किया गया है। जब हम दूसरों के प्रति कदापि हिंसा नहीं करते हैं तो इसका अर्थ यह है कि हम उसे अपने साथ अस्तित्व बने रहने देने में विश्वास करते हैं। यही भावना सहभाव है। अहिंसा की वैचारिकी से सह-अस्तित्व की भावना को महती बल मिलता है।

वैदिक हिंसा को चुनौती देने से लेकर आजकल अशांत हो रहे सम्पूर्ण वैश्विक

संस्कृति के लिए खतरा उत्पन्न करने वाले विश्वयुद्ध को वैचारिक धरातल पर पटखनी देने वाला यह अनेकान्तवादी चिन्तन चित्त से पक्षपात की दुरभिसन्धि निकालकर एवं पर-मतवाद के विषय में सहिष्णुतापूर्वक विचार कर एक साथ 'जीओ और जीने दो' के आदर्श को प्रशस्त करता है तथा सहभाव के लिए उत्प्रेरित करता है। आज जो निखिल विश्व में अशांति प्रसृत एवं व्याप्त है उसका मूलकारण एक 'वाद' का या एक 'संस्कृति' का दूसरे 'वाद' या दूसरी 'संस्कृति' पर मनमाने ढंग से रौब गाँठने एवं उसे न स्वीकार करना ही है। शक्तिशाली देशों को ऐसा प्रतीत होता है कि वे ही सबसे अधिक सभ्य एवं श्रेष्ठ हैं, अन्यों का स्थान उनके समक्ष नहीं रहना चाहिए; उन्हीं का धर्म एवं उन्हीं की संस्कृति सर्वश्रेष्ठ है, अन्यों की नहीं। ऐसे ही, स्वयं के देश के भीतर भी भारी विरोधाभास है। साम्यवादियों को लगता है कि प्रजातांत्रिक प्रणाली गलत है और प्रजातांत्रिकों को लगता है कि साम्यवाद असफल एवं कूड़े की टोकरी में फेंके जाने वाला सिद्धान्त है। ऐसे ही विभिन्न धर्मावलंबियों की कहानियाँ हैं। वे अपने-अपने धर्म की श्रेष्ठता में दूसरे धर्म की आलोचना करना तथा साम्प्रदायिक सद्भाव को नष्ट करने के कुत्सित प्रयास करना अपना पुनित कार्य समझते हैं। ऐसी विकट परिस्थिति में जहाँ अस्तित्व का संकट खड़ा हो; वैचारिक उन्माद शारीरिक हिंसा के रूप प्रकट हो रहा हो, वहाँ जैन दर्शन के अनेकान्तवादी चिन्तन प्रणाली का प्रयोग सर्वसमावेशी सांस्कृतिक सहभाव के लिए अवश्यंभावी हो जाता है। जैन दर्शन का यह तत्त्वचिन्तन मानसिक रूप से मतान्ध हो गये व्यक्तियों के लिए दवा की खुराक के रूप में प्रयोज्य है। इसी धारणा को लक्ष्य करते हुए रामधारी सिंह 'दिनकर' ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक संस्कृति के चार अध्याय में कहा है: ''इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेकान्त का अनुसन्धान भारत की अहिंसा साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा संसार इसे जितना शीघ्र अपनाएगा, विश्व में शान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।''[१६]

४.३ सामाजिक संतुलन एवं विश्व-शान्ति

न केवल भारत, अपितु सम्पूर्ण विश्व में अनेक समुदायों एवं संस्कृतियों के लोग निवास करते हैं। सबकी अपनी-अपनी समस्याएँ हैं। अपने देश को लीजिए। कहीं गरीबी की समस्या है, तो कहीं अशिक्षा की, कहीं दलित उत्पीड़न की समस्या है, तो कहीं जनजातियों की, कहीं अल्पसंख्यकों के साथ अन्याय, तो कहीं नारी शोषण, तो कहीं पिछड़ों के हक की समस्याएँ है, कहीं-कहीं क्षेत्रवाद है, तो कहीं

धार्मिक उन्माद ही सिर चढ़कर बोल रहा है। ऐसे ही विश्व के अन्य देशों में भी उनकी परिस्थितियों के सापेक्ष समस्याएँ, बाह्य एवं आन्तरिक असुरक्षा व्याप्त हो चुकी हैं। कहने का तात्पर्य है कि सम्पूर्ण सामाजिक संतुलन के तार अस्त-व्यस्त हो गये हैं। इन सबका मूल कारण वैचारिक धरातल पर है। हम सबको साथ लेकर चलने में विश्वास नहीं कर रहें। यहाँ तक कि संयुक्त परिवार खण्डित हो रहे हैं। कोई भी अपने ही परिवारीजनों के साथ एक छत के नीचे नहीं रहना चाहता। ऐसी परिस्थिति के आ जाने पर जब व्यक्तियों में सहभावन की सम्भावना न दिखती हो, तब अनेकान्तवाद का दर्शन लोगों में एक नये भविष्य की आशा के साथ सह-अस्तित्व के बीज का पुनर्वपन कर सकता है। यह तत्त्वमीमांसा का सिद्धान्त व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं सम्पूर्ण विश्व में सहजीवन एवं शक्ति का संचार कर सकता है।

५. उपसंहार

जैन दर्शन भारतीय संस्कृति के श्रमण चिन्तनधारा का एक दार्शनिक सम्प्रदाय है। इस दर्शन की अनूठी तत्त्वमीमांसा का तार्किक सिद्धान्त जो 'अनेकान्तवाद' के रूप में प्रख्यात है, इस दर्शन का प्राणतत्त्व है। यह सिद्धान्त न केवल अपनी वैचारिकी के कारण प्रसिद्ध है, प्रत्युत् इसका प्रयोग ज्ञानमीमांसा, नीति एवं समाज दर्शन के क्षेत्र में भी सफल एवं व्यवहार्य है। अनेकान्तवाद का दार्शनिक आधार यही है कि यह वाद अन्य वादों को भी सम्यक् अवकाश प्रदान करता है। इसके अनुसार जैन दर्शन का कहना है कि वस्तु में अनेक गुण है, और हम अपनी सीमित ज्ञान-शक्ति के द्वारा कुछ को ही जान सकते हैं, सबको नहीं। ऐसे में अन्यों के कथनों को नकारने का हमें तार्किक आधार प्राप्त नहीं है। अत: हमें उसे भी आंशिक सत्य के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए। यही विचार जैन दर्शन को उच्च नैतिक मानदण्ड स्थापित करने के लिए प्रेरित करता है जिससे सर्वसमावेशी सह-अस्तित्व की भावना का नैतिक दर्शन विकसित होता है। अर्थात् जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा का 'अनेकान्तवाद' उसकी ज्ञानमीमांसा के 'स्याद्वाद' एवं नीतिमीमांसा के सर्वसमावेशितावाद के रूपों में तर्कत: प्रकट होता है।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. यादव, बालेश्वर प्रसाद, "श्रमण-ब्राह्मण चिन्तनधारा के प्रभेदक तत्त्वमीमांसीय परिप्रेक्ष्य", संस्कृति संधान, जिल्द-XXV, नं.-२, २०१२, पृ. १०९-१२२

२. अनन्तधर्मात्मकं वस्तु। अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्। – अन्ययोगव्यच्छेदिका, पृ. २२, उद्धृत शर्मा, चन्द्रधर, भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्रा. लि., दिल्ली, १९९१, पृ. ३२
३. आचार्य महाप्रज्ञ, अनेकान्त : फिलॉसफी ऑफ को-एक्जिस्टेंस, जैन विश्वभारती, लाडनूँ, २०१०, पृ. २१
४. गुणपर्यायवद् द्रव्यम्, तत्त्वार्थसूत्र, ५.३७
५. उत्पादव्ययध्रौव्यसंयुक्तं सत्, यथोपरि, ५.२९
६. सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः। अन्ययोगव्यच्छेदिका, २८
७. अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः।– लघीयस्त्रयटीका, ६२
८. स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकं ततः स्याद्वादोऽनेकान्तवादः। स्याद्वादमंजरी, ५
९. मेहता, मोहन लाल, जैन धर्म-दर्शनः एक समीक्षात्मक परिचय, सेठ-मूथा छगनमल मेमोरियल फाउण्डेशन, बेंगलोर, १९९९, पृ. ३५९.
१०. तत्त्वार्थसूत्र से उद्धृत, देखें आचार्य महाप्रज्ञ, (अनु.) रघुनाथन, सुधामाही, अनेकान्त : द थर्ड आई, जैन विश्व भारती यूनिवर्सिटी, लाडनूँ, २००९, पृ0 २३.
११. मेहता, मोहन लाल, पूर्वोद्धृत, पृ. ३५३.
१२. उत्तराध्ययनसूत्र, १९.२५
१३. सूत्रकृतांग, १.११.३३.
१४. मेहता, मोहन लाल, पृ. ५०५.
१५. तत्रैव।
१६. 'दिनकर', रामधारी सिंह (२०१२), संस्कृति के चार अध्याय, इलाहाबाद लोक भारती प्रकाशन, पृ. ११५.

सामाजिक नैतिकता की वर्तमान में प्रासंगिकता : जैन-धर्म के परिप्रेक्ष्य में

अनिल कुमार सोनकर

अनन्त चतुष्टय सम्पन्न तीर्थकरों के साक्षात् उपदेश पर आधारित निवृत्तिमार्गी जैन-धर्म में उन शुद्ध, नित्य व शाश्वत नियमों का निरूपण हुआ है, जिन पर चलने से मनुष्य का ऐहिक, आमुष्मिक एवं सनातन कल्याण होता है, समाज में स्थिरता और संतुलन स्थापित होता है तथा जिनके निर्वहन से व्यक्ति तथा समाज दोनों का ही श्रेय होता है।[1] समस्त धर्मों का परमश्रेय-समत्व जैन धर्म के अन्तर्गत मानसिक क्षेत्र में अनासक्ति या वीतरागता के रूप में, सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा के रूप में, वैचारिकता के क्षेत्र में अनासक्ति या वीतरागता के रूप में, सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा के रूप में, वैचारिकता के क्षेत्र में अनेकान्त या अनाग्रह के रूप में और आर्थिक क्षेत्र में अपरिग्रह के रूप में अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार जैन-धर्म में परमश्रेय के रूप मे जो मोक्ष है, वही धर्म है और जो धर्म है, वही समत्व-प्राप्ति है।

जनसामान्य के कल्याण हेतु आचार -व्यवहार के सुव्यवस्थित नियमों का प्रतिपादन करने वाला जैन धर्म व्यापक आदर्शों वाला वह वैज्ञानिक जीवन-पद्धति है जो मनुष्य की आचार -शुद्धि और साधना द्वारा चरम उन्नति का समर्थ आश्वासन प्रतिपादित करते हुए मनुष्य को जैनत्व से सम्पन्न करने की क्षमता रखता है साथ ही अन्यान्य परम्पराओं के विपरीत मुक्तिदाता के रूप में किसी सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न ईश्वर अथवा तीर्थंकर के अनस्तित्व का निर्देश करते हुए उस आस्था का विधायक है कि मनुष्य अपने प्रयासों एवं कर्मों से जगत् में सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त कर सकता है। मानव के ऐहिक मूल्यों की प्राप्ति का साक्षात् हेतु तथा पारलौकिक मूल्यों की प्राप्ति का पारम्परिक हेतु जैन धर्म मात्र वैयक्तिक मुक्ति का उपाख्यान नहीं करता, अपितु उसे समष्टिगत कल्याण के रूप में देखता है। उसकी यही दृष्टि मनुष्य में आत्मगौरव, आत्मविश्वास और आत्मशक्ति को उदित करने में सफल रहती है।

जैन धर्म विवेक पर आधारित उस सामाजिक चेतना को विकसित करने हेतु प्रयत्नशील रहता है जिसके द्वारा सामाजिक नैतिकता का परमश्रेय समत्व सम्प्राप्त हो सके। और एतदर्थ वह सामाजिक सन्दर्भ की दृष्टि से सामाजिक दायित्वों के निर्वहन की अपेक्षा सामाजिक जीवन को दूषित करने वाले तत्त्वों के निरसन व चरित्र निर्माण

पर आग्रह करता है। जैन-धर्म के अंतर्गत सामाजिक नैतिकता के केन्द्रीय तत्त्व- अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह, जब साधना के त्रिअंग-सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र से सम्बन्धित होते हैं। तब सम्यक् आचरण के अंग के रूप में प्रकट होते हैं। सम्यक् आचरण जीवन-शुद्धि का वह प्रयास है, जिसके अन्तर्गत मानसिक कर्मों की शुद्धि हेतु, अनासक्ति, वाचिक कर्मों की शुद्धि हेतु अनेकान्त और कायिक कर्मों की शुद्धि हेतु अहिंसा के पालन का निर्देश अभिहित है। जैन धर्म के अनुसार जिस प्रकार चेतना के तीन पक्ष ज्ञान, दर्शन और चरित्र आध्यात्मिक पूर्णता की दिशा में एक-दूसरे से अपृथक हैं, उसी प्रकार आत्मीयता, प्रेम, त्याग, समर्पण और सहयोग के आधारभूत स्तम्भ अहिंसा, अनाग्रह और अपरिग्रह भी मानव जीवन में लोकमंगल की भावना, समता, एकता, शान्ति प्रभृति को प्रस्फुटित व विकसित करने में तथा सामाजिक समता की संस्थापना में एक- दूसरे से अपृथक हैं।

सामाजिक नैतिकता के केन्द्रीय तत्त्वों के निरूपण के पूर्व उन पक्षों पर दृष्टिपात करना उचित होगा जिसकी उपस्थित में सामाजिक समस्यायें व विषमताऐं उत्पन्न होती हैं। सम्पूर्ण आचार-दर्शन का सार समत्व-साधना है। समत्व हेतु प्रयास ही जीवन का सारतत्त्व है। सतत् शारीरिक एवं प्राणमय जीवन के अभ्यास के कारण चेतना बाह्य उत्तेजनाओं एवं संवेदनाओं से प्रभावित होने की प्रवृत्ति विकसित कर लेता है। परिणामस्वरूप बाह्य वातावरणजन्य परिवर्तनों से प्रभावित होकर अपने सहज स्वभाव समत्व का परित्याग कर देता है और संसार के प्रति ममत्व-भाव को पुष्ट करने की प्रवृत्ति विकसित कर लेता है। प्रपंचात्मक जगत् के पदार्थों की उपलब्धि-अनुपलब्धि से स्वयं को सुखी-दुःखी समझता है। उसमें 'पर' के प्रति आकर्षण या विकर्षण का भाव समुत्पन्न होता है। वह उस पर के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करता है और परिणामस्वरूप वह वेदना, बंधन या दुःख को प्राप्त करता है। वह राग न केवल उसे समत्व के स्वकेंद्र से पदच्युत करता है, प्रत्युत उसे बाह्य पदार्थों के आकर्षण क्षेत्र में लाकर उसमें एक तनाव व्युत्पन्न कर देता है, जिसके परिणामस्वरूप चेतना दो केन्द्रों में बँट जाती है और दोनों ही स्तरों पर चेतना में दोहरा, संघर्ष उत्पन्न होता है- प्रथम, चेतना के आदर्शात्मक पक्ष का उस बाह्य परिवेश के साथ, जिसमें वह अपनी वासनाओं की पूर्ति चाहता है। मानव की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है जिसके प्रति वह आसक्ति रखता है, वही उसके लिए 'स्व' बन जाता है और उससे भिन्न 'पर' बन जाता है। आत्मा का समत्व केंद्र से विलगाव

ही 'स्व' तथा 'पर' के आविर्भाव का कारण है। नैतिक चिंतन में इन्हें 'राग तथा 'द्वेष' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। इसमें 'राग' आकर्षण का सिद्धान्त है, जबकि 'द्वेष' विकर्षण का। इन्हीं के कारण चेतना में सदैव तनाव, संघर्ष अथवा द्वन्द्व चलता रहता है। यद्यपि चेतना अपनी स्वाभाविक शक्ति द्वारा सदैव ही साम्यावस्था के लिए प्रयासरत रहती है। लेकिन राग और द्वेष किसी भी स्थायी संतुलन को सम्भव नहीं होने देते। यही चेतना जब राग, द्वेष से युक्त हो जाती है, तो विभावदशा/विषमता को प्राप्त होती है। चित्त की विषमावस्था ही समग्र दोषों एवं अनैतिक आचरण की जन्मभूमि है। राग-द्वेष से उत्पन्न दोष ही व्यक्ति, परिवार, समाज एवं विश्व के लिए विषमताओं के वशीभूत होकर व्यक्ति अनैतिक कृत्यों का सम्पादन करता है, जिससे परिवार, समाज, देश व विश्व का अहित होता है। यही कारण है कि भारतीय नैतिकता में राग-द्वेष से ऊपर उठना सम्यग् जीवन की अनिवार्य शर्त मानी गयी है।

प्रत्येक युग में मानव-जीवन की समस्याएँ लगभग समान रही हैं। वस्तुतः मानव जीवन की समस्याएँ (व्यवहारिक एवं आन्तरिक दोनों) विषमता जनित हैं। समकालीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में मानव जीवन की समस्याएँ प्रमुखतः चार रूपों मे प्रकट होती हैं- सामाजिक, आर्थिक, वैचारिक और मानसिक। इन समस्याओं के मूल में मुख्यतः व्यक्ति की रागात्मक प्रवृत्ति काम करती है। मानव-जीवन की समस्याएँ चाहे सामाजिक जीवन से जुडी हों अथवा पारस्परिक सम्बन्धों (व्यक्ति और परिवार, व्यक्ति और नीति, व्यक्ति और समाज, व्यक्ति और राष्ट्र तथा व्यक्ति और विश्व) से, जब तक इनमें रागात्मक प्रवृत्ति हेतु रूप में उपस्थित होगी, तब तक इनमें विषमताएँ/समस्याएँ स्वाभाविक रूप से रहेगी। परिणामस्वरूप भाई-भतीजावाद, जातिवाद, सम्प्रदायवाद और राष्ट्रवाद का उद्भव भी अस्तित्व में रहेगा। आज के सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों में व्यवधान स्वरूप ये तत्त्व मनुष्य को पारिवारिक, जातीय, सम्प्रदायिक प्रभृति निकृष्ट स्वार्थों से ऊपर आने नहीं देते। वस्तुतः यही सामाजिक विषमता की अवस्था है। सामाजिक जीवन में व्याप्त विषमता के मूल में जैन परम्परा में प्रतिपादित राग के सहप्रत्यय कषाय (संग्रह, आवेश, गर्व और माया) हैं। इन कषाओं की उपस्थिति में ही शोषण, निरपेक्ष- व्यवहार, विश्वासघात, घृणा, अमैत्रीपूर्ण व्यवहार, संघर्ष, युद्ध प्रभृति का प्रादुर्भाव एवं विकास होता हैं।

आर्थिक विषमता व्यक्ति और भौतिक जगत् के सम्बन्धों से उत्पन्न विषमता है।

मुख्यतः इसके मूल में संग्रह-प्रवृत्ति काम करती है। भौतिक जीवन को सम्यक्-रूपेण सम्पन्न करने हेतु चेतना को अनेकानेक वस्तुएँ अपने प्राणमय जीवन के लिए आवश्यक प्रतीत होती है, लेकिन जब यही आवश्यकता आसक्ति में परिणत हो जाती है तो संग्रह-प्रवत्ति का प्रादुर्भाव होता है। यह अभाव स्वाभाविक नहीं है, प्रत्युत तृष्णा प्रसूत मानसिक व्याधि है, जिसके मूल में संग्रहेच्छा और भोगेच्छा की प्रवृत्ति विद्यमान है। साथ ही सर्वस्वीकृत धारणा है कि स्वाभाविक अभाव की पूर्ति तो सम्भव है, लेकिन तृष्णा जनित अभाव की नहीं। यही विषमता विचारों पर केन्द्रित होकर वैचारिक विषमता के रूप में प्रकट होती है। अनेकानेक सिद्धान्त और उनसे प्रादुर्भूत वैचारिक मतभेद सामाजिक जीवन को अत्यधिक दूषित कर रहे हैं। वर्तमान में विश्व में व्याप्त संघर्षों के मूल में राजनैतिक अथवा आर्थिक विचार उतने महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना वैचारिक आधिपत्य की स्थापना का। ये समस्त विषमताएँ सामाजिक जीवन से सम्बन्धित हैं और नैतिकता के बाह्य पक्ष को प्रभावित करती हैं। इनका प्रकटन आन्तरिक होता है। नैतिकता का आन्तरिक आधार मनोजगत् है, जिसे प्रभावित करने में चतुर्विध कषाय मूल हेतु हैं। यदि व्यक्ति सम्बन्धी विघटनकारी तत्त्वों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण किया जाय तो यह स्पष्ट परिलक्षित होगा कि मनोजगत् की विषमता उक्त कषाय प्रसूत हैं। एतदर्थ कषायों पर विजय-लाभ द्वारा मानसिक विषमता के विसर्जन का जैन परम्परा में निरूपण हुआ है। कषायों की पूर्ण समाप्ति कर ही एक पूर्ण व्यक्तित्व का प्रकटन होता है। ध्यातव्य है कि अब तक उन पक्षों का निरूपण हुआ जिससे सामाजिक जीवन दूषित होता है। सामाजिक जीवन को स्थायित्व व संतुलन प्रदान करने वाले तत्त्वों का विघटन होता है, जिसका प्रभाव परिवार समाज व राष्ट्र सभी पर पडता है। इसी के प्रभाव में मानव भौतिकता की आंधी में बहिर्मुखी बनकर उन जीवन-मूल्यों का परित्याग कर रहा है, जिससे वह सुख, समृद्धि शान्ति, विनयशीलता, एकता, समता, संयम प्रभृति सद्गुणों को प्राप्त करता है। मानव अपनी बहिर्मुखी प्रवृत्ति के कारण ही विषमता, हिंसा, स्वार्थपरता, अन्याय, अत्याचार इत्यादि को प्राप्त कर रहा है, जिससे वह स्वयं अशान्त व व्यथित है; परिवार, समाज व राष्ट्र परेशान व चिन्तित हैं। आज समाज में यह धारणा प्रबल रूप धारण करती जा रही है-नैतिक एवं उच्च मूल्यों के प्रति निष्ठा रखने वाला मनुष्य सुख-सुविधा की दृष्टि से हानि में रहता है। एतदर्थ प्रगति के नाम पर आज मानव उक्त नैतिक जीवन मूल्यों एवं आध्यात्मिक जीवन के प्रति औदासिन्य

भाव प्रकट कर रहा है। वर्तमान विचारणानुसार जीवन की आवश्यकताएँ जितनी अधिक होंगी उतनी ही सामाजिक उन्नति होगी। इस मान्यता ने समाज में ऐसी भोग की स्पर्धा खडी कर दी है कि इस स्पर्धा में कोई भी पीछे नही रहना चाहता। आज जन-मानस इस पक्षपर विशेष रूप से ध्यान दे रहा है कि नैतिक जीवन-मूल्य खण्डित हों तो भले हों, लेकिन सुख-सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए। इस मान्यता के निमित्त ही सत्य और प्रामाणिकता का मूल्य कम हुआ है।[२] वस्तुतः मनुष्य के लिए जिस आनन्द और शान्तिमय जीवन की अपेक्षा है, वह भोगों की उपस्थिती में सम्भव नहीं है, क्योंकि जिन्हें सन्तुष्टि के अल्प साधन उपलब्ध हैं, वे अधिक आनन्दित हैं, अपेक्षाकृत उनके जो भौतिक सुख-सुविधाओं की विपुलता के बाद भी उतने आनन्दित नही हैं।[३] यदि सामाजिक जीवन में व्याप्त विषमताओं का विसर्जन करना है अथवा नैतिक मूल्यों के ह्रास को रोकना है तो व्यक्ति को स्वयं तथा सामाजिक स्तर पर भौतिक मूल्यों के साथ-साथ आध्यात्मिक मूल्यों को स्वीकारना होगा और एक ऐसी जीवन-दृष्टि का सृजन करना होगा जो मनुष्य में उच्च मूल्यों के विकास के साथ ही समस्त मानवता को भय, संघर्ष, तनाव, अप्रामाणिकता प्रभृति से मुक्त कर सके।

नैतिक जीवन का लक्ष्य सदैव ही उस जीवन-प्रणाली को प्रतिष्ठित करना रहा है, जिसके द्वारा एक ऐसे मानव-समाज की संरचना हो सके जो सामाजिक जीवन में व्याप्त विषमताओं (सामाजिक, आर्थिक, वैचारिक और मानसिक) तथा संघर्षों (आन्तरिक मनोवृत्तियों का संघर्ष, आन्तरिक इच्छाओं और उनकी पूर्ति के बाह्य प्रयासों का संघर्ष और बाह्य समाजगत एवं राष्ट्रगत संघर्ष) से मुक्त है। यद्यपि ये संघर्ष एवं विषमताएँ मानव द्वारा प्रसूत नहीं हैं, तथापि उसे प्रभावित करते हैं। समस्त संघर्षों एवं विषमताओं का निरोध सिर्फ जीवन के परमादर्श समत्व की अवस्था में ही सम्भव है। इस परमादर्श की उपलब्धि मनुष्य स्वयं के प्रयासों द्वारा कर सकता है। समत्व-प्राप्ति मानव का स्वभाव है और जो स्वभाव है, वही आदर्श है, साध्य है। इस साध्य की सम्प्राप्ति जिस आचरण द्वारा हो, वही नैतिक आचरण अनुकरणीय है। इस नैतिक आचरण का सम्पादन तो इस सामाजिक चेतना द्वारा सम्भव है, जो विवेक पर आधारित है। सामान्यतः यह सर्वस्वीकृत धारणा है-राग-भावना व्यक्ति को व्यक्ति से जोडता है, लेकिन यह वास्तविकता के सर्वथा विपरीत है, क्योंकि व्यक्ति को व्यक्ति से जोडने वाला तत्त्व राग नहीं, प्रत्युत विवेक है। राग-वृत्ति का कार्य जोडना और तोडना दोनों है। इसी परिप्रेक्ष्य में वर्गभेद और वर्णभेद का प्रादुर्भाव होता है। इसके

विपरीत विवेक दायित्व-बोध एवं कर्तव्य-बोध की भाषा है। इसी की उपस्थिति में वास्तविक में वास्तविक सामाजिकता का सृजन होता है। एतदर्थ जैन-धर्म विवेक पर आधारित उस सामाजिक चेतना को विकसित करना चाहता है, जिससे मेरे और तेरे, अपने और पराये की चेतना विलुप्त हो जाती है और केवल आत्मवत् दृष्टि शेष रहती है। यही आत्मवत् दृष्टि जैन-धर्म द्वारा प्रतिष्ठित सामाजिक नैतिकता के केन्द्रीय तत्त्वों (अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह) में भी दृष्टिगोचर होती है। ये आत्मीयता, प्रेम, त्याग, समर्पण और सहयोग के आधारभूत स्तम्भ हैं। इनसे ही सामाजिक जीवन में व्याप्त विषमताओं एवं संघर्षों का विसर्जन होता है, साथ ही मानव जीवन में लोकमंगल की भावना, समता, एकता, शान्ति प्रभृति का प्रस्फुटन व प्रवाहन होता है। एतदर्थ इन केन्द्रीय तत्त्वों का निरूपण अपरिहार्य हो जाता है।

तीर्थंकरों द्वारा उपदेशित अहिंसा वह शाश्वत, शुद्ध और नित्य धर्म है जिसका मूलाधार जीवन के प्रति सम्मान, समत्व-भावना एवं अद्वैतभावना है। अहिंसा चर एवं अचर सभी प्राणियों का कल्याण करने वाली है।[४] जबकि सूत्रकृतांग सूत्रानुसार ज्ञानी होने का सार है-किसी प्राणी की हिंसा न करें। अहिंसा ही समग्रधर्म का सार है, इसे सदैव ही स्मरण रखना चाहिए।[५] इसके सर्वाधिक व्यापक स्वरूप का निरूपण आचारांगसूत्र में हुआ है- भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी अर्हत् यह उपदेश करते हैं कि किसी भी प्राण, पूत, जीव और सत्त्व को किसी भी प्रकार का परिताप, उद्वेग या दुःख नहीं देना चाहिए, न किसी का हनन करना चाहिए। यही शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म है। समस्त लोक की पीडा जानकर अर्हतों ने इसका प्रतिपादन किया है।[६] वस्तुतः अहिंसा प्राणियों के जीवित रहने का नैतिक अधिकार है जबकि इसका विकास समत्वभावना से समुत्पन्न सहानुभूति तथा अद्वैतभावना से समुत्पन्न आत्मीयता से होता है। अहिंसा की धारा का प्रवाहन सर्वत्र आत्मभावमूलक करुणा और मैत्री विधायक अनुभूतियों से हूई है। वह क्रिया नहीं, सत्ता है, आत्मा की एक अवस्था (अप्रमत्त अवस्था है)।

जैन-धर्म में अहिंसा के पश्चात् अनाग्रह एवं अपरिग्रह का प्रतिपादन हुआ है। अनाग्रह वह सिद्धान्त है जो अपने विचारों की तरह दूसरों के विचारों का सम्मान करना सिखलाता है। इस सिद्धान्त के विपरीत व्यक्ति जब स्व-मत की प्रशंसा व पर-मत की निंदा करता है तो सामाजिक जीवन में संघर्ष का प्रादुर्भाव होता है, सामाजिक जीवन में विग्रह, विषाद और वैमनस्य का बीजवपन होता है। सूत्रकृतांग में

स्पष्ट कहा गया है- जो अपने मत की प्रशंसा और दूसरे मत की निन्दा में ही अपनी विद्वता दिखाते हैं तथा लोक को सत्य से भटकाते हैं, वे एकान्तवादी स्वयं संसार चक्र में भटकते हैं।[७] वस्तुतः सत्य तो सर्वत्र देदीप्यमान है, जो भी मनुष्य उन्मुक्त दृष्टि से देखने का प्रयास करेगा, वही उसे प्राप्त भी करेगा। सत्य केवल सत्य है, वह न मेरा है और न दूसरे का। जैन विचारानुसार, जिस प्रकार अहिंसा का सिद्धान्त कहता है- जीवन जहाँ कहीं हो, उसका सम्मान करना चाहिए, ठीक उसी प्रकार अनाग्रह का सिद्धान्त कहता है-सत्य जहाँ कहीं हो उसका सम्मान करना चाहिए।[८] जैन तत्त्वज्ञान के अन्तर्गत प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मों वाली मानी गई है जबकि राग-द्वेष के निमित्त उद्भूत एकान्त व आग्रह सत्ता के एक ही पक्ष को ग्रहण करते हैं। इस स्थिति में जहाँ अनन्त सत्ता के अनेकानेक पक्षों का अपलाप मात्र होता है, वही मनुष्य का ज्ञान भी संकुचित एवं ससीमावस्था को प्राप्त होता है, क्योंकि आग्रह की उपस्थिति में अनन्त सत्ता को जानने की जिज्ञासा ही नहीं होती है। इसके विपरीत जैनविचारणानुसार तत्त्व पक्षातिक्रान्त है, वह परम सत्य है, अतः उसे आग्रह द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसका दर्शन तो केवल सत्य का साधक वीतरागी अथवा अनाग्रही कर सकता है। इसी परिप्रेक्ष्य में जैन-धर्म अनेकान्त के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है, उद्देश्य होता है अनाग्रही एवं समन्वयात्मक दृष्टि को प्रस्तुत करना जिसके द्वारा वैचारिक असहिष्णुता को समाप्त किया जा सके, क्योंकि वैचारिक असहिष्णुता की उपस्थिति से ही सामाजिक व पारिवारिक जीवन विषाक्तावस्था को प्राप्त होता है।

पुनश्च, सामाजिक नैतिकता के क्षेत्र में यही अनासक्ति अपरिग्रह के रूप परिणत होती है। जैन-धर्म में निरूपित पंचमहाव्रतों में से प्रथम तीन (अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) अनासक्ति के व्यवहारिक रूप हैं। आसक्ति के बाह्य रूपों (अपहरण, भोग और संग्रह) का निग्रह उक्त तीनों महाव्रतों द्वारा होता है। वस्तुतः आसक्ति तृष्णा का प्रतिरूप है। इसके सम्बन्ध में दशवैकालिक में कहा गया है-आसक्ति का दूसरा नाम लोभ और लोभ ही समग्र सद्गुणों का विनाशक है।[९] जबकि सूत्रकृतांग के अनुसार मनुष्य जब तक किसी प्रकार की आसक्ति रखता है, वह दुःख से मुक्त नहीं होता है।[१०] यद्यपि आसक्ति एक मानसिक तथ्य है, मन की एक वृत्ति है, जिसका दुष्प्रभाव सामाजिक जीवन पर पडता है। वस्तुतः जैनाचार्यों ने आसक्ति के विसर्जन हेतु जिस अपरिग्रह के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, निश्चित रूप से उसके मूल में यही अनासक्ति की प्रधान दृष्टि कार्य कर रही थी, साथ ही इसको आवश्यक समझकर ही

जैनाचार्यों ने परिग्रह के त्याग पर बल दिया जिससे अनासक्ति को आचरण में उतारा जा सके। अनासक्ति की धारणा को व्यवहारिक रूप देने हेतु ही जैन-धर्म में गृहस्थ जीवन में परिग्रह-मर्यादा और श्रमण जीवन में समग्र परिग्रह के त्याग का निर्देश अभिहित है। आसक्ति और अपरिग्रह मे सूक्ष्म अन्तर है-अपरिग्रह में ममत्व के साथ-साथ सम्पदा का विसर्जन होता है, यह सामाजिक तथा व्यवहारिक दोनों स्तर पर होता है। इसके विपरीत अनासक्ति वैयक्तिक है तथा इसमें केवल ममत्व का विसर्जन होता है। वस्तुतः अनासक्ति एवं अपरिग्रह दोनों से ही आर्थिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त होता है। अपरिग्रह का सिद्धान्त अर्थ-अर्जन के पक्ष में उसे सीमा तक रहता है, जहाँ तक उसके साथ शोषण की दुष्प्रवृत्ति संयुक्त नहीं रहती है। यद्यपि अपरिग्रह का कोई सार्वभौम मानदण्ड सम्भव नहीं है, तथापि इसका निर्धारण देश-काल, व्यक्ति और परिस्थिति पर निर्भर अवश्य है। पुनश्च, यद्यपि परिग्रह-मर्यादा की अवस्था में समान वितरण और समाज में शान्ति व एकता स्थापित हो, तथापि मानसिक शान्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि मानसिक शान्ति हेतु तृष्णा का निरुन्धन आवश्यक है और यह अनासक्तावस्था में ही सम्भव है। वस्तुतः जब अपरिग्रह अनासक्ति से फलित होता है तभी व्यक्ति एवं समाज के बीच सच्ची शान्ति व समता की संस्थापना होती है।

उक्त तथ्यों पर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट परिलक्षित होगा कि मानव जीवन की समग्र समस्याओं/विषमताओं (समकालीन अथवा वर्तमान युगीन) के मूल में राग-द्वेष तथा राग के सह प्रत्यय कषाय-चतुष्क (संग्रह, आवेश, गर्व और माया)हैं। राग-द्वेष के निमित्त ही मानव अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति का परित्याग कर भौतिक पदार्थों के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। फलतः मानव-जीवन को सार्थक बनाने वाले जीवन-मूल्यों (सुख-समृद्धि, शान्ति, समता, एकता, विनयशीलता, संयम प्रभृति सद्गुणों) का परित्याग कर विषमता, हिंसा, संघर्ष, स्वार्थपरता, अन्याय, अत्याचार प्रभृति दुष्प्रवृत्तियों को प्राप्त करता है, जिससे वह स्वयं अशान्त व व्यथित होता है, परिवार, समाज व राष्ट्र भी चिंतित व परेशान होता है। यहाँ स्वाभाविक प्रश्न समुत्पन्न होता है- वह कौन सी अवस्था है? जिसे प्राप्तकर मानव राग-द्वेष व उसके सह-प्रत्ययों से सर्वदा के लिए मुक्त हो सकता है। इस जिज्ञासा के निवारणार्थ एक ही अवस्था मानव-चक्षु के सामने देदीप्यमान होती है और वह अवस्था है-**समत्व-प्राप्ति** की। पुनश्च, स्वाभाविक जिज्ञासा समुत्पन्न होती है कि **समत्व-संस्थापना** में जैन-धर्म तथा आत्मीयता प्रेम, त्याग, समर्पण और सहयोग के आधारभूत स्तम्भ

उसके केन्द्रीय तत्त्व-अहिंसा, अनाग्रह और अपरिग्रह कहाँ तक प्रासंगिक है? इस जिज्ञासा के निवारणार्थ आवश्यक है कि प्रारम्भ में विवेचित उन तथ्यों पर दृष्टिपात करें जिसके प्रयास से सामाजिक नैतिकता का परमश्रेय समत्व सम्प्राप्त हो सके।

ध्यातव्य है कि जैन-धर्म विवेक पर आधारित उस सामाजिक चेतना को विकसित करने हेतु प्रयत्नशील रहता है जो दायित्व-बोध और कर्तव्य-बोध से पूर्ण हो। यथार्थ चेतना दायित्व-बोध व कर्तव्य-बोध के रूप में आत्मीयता, प्रेम, त्याग, समर्पण, सहयोग, सम-वितरण, शान्ति, अभय सभी प्रकार की सहिष्णुता (सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और वैचारिक) आनन्द प्रभृति सद्गुणों को अपने में समाविष्ट किये हुए है। वस्तुतः इन सद्गुणों का उद्गम स्थल तीर्थंकर उपदेशित् सामाजिक नैतिकता के केन्द्रीय तत्त्व-अहिंसा, अनाग्रह और अपरिग्रह हैं। एतदर्थ मानव जीवन में व्याप्त समस्त समस्याओं/विषमताओं (सामाजिक, आर्थिक, वैचारिक और मानसिक) के निरुन्धन में इनकी महती भूमिका है। मानव जीवन में राग जनित अहं के प्रत्यय के निमित्त व्याप्त परतंत्रता का विसर्जन अहिंसा द्वारा होता है, क्योंकि अहिंसा का सिद्धान्त समत्व-भावना, अद्वैत भावना व स्वतंत्रता के साथ जुडा हुआ है, जबकि सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों को दूषित करने वालों तत्त्वों का निराकरण अनासक्ति-दृष्टि अथवा वितरागतावस्था में होता है। जैन-धर्म आर्थिक क्षेत्र में समत्व का सृजन (परिग्रह विसर्जन) अनासक्ति व अपरिग्रह द्वारा होता है। पुनश्च, बहिर्मुखी प्रवृत्ति में निमित्त नैतिक मूल्यों का जो ह्रास हो रहा है, उसका निरोध अहिंसा अनाग्रह और अपरिग्रह के सिद्धान्त को आचरण में पूर्णतः उतारकर ही हो सकता है, क्योंकि ये सिद्धान्त अपने में भौतिक मूल्यों के साथ-साथ आध्यात्मिक मूल्यों को भी समाविष्ट किये हुए हैं। अनासक्ति दृष्टि द्वारा ही मानव जीवन में वास्तविक नैतिकता का सृजन हो सकता है, क्योंकि इस अवस्था में व्यक्ति अपने वास्तविक व्यक्तित्व का यथार्थ दर्शन करता है। यथार्थ दर्शन की अवस्था में लोकमंगल की भावना से सम्बन्धित समस्त सद्भावनाओं का प्रकटन स्वतः होता है साथ ही लोक कल्याण हेतु वीतरागी पुरुष आचरण का सम्पादन करने लगता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन-धर्म प्रणित सामाजिक नैतिकता के आधारभूत स्तम्भ अहिंसा, अनाग्रह और अपरिग्रह मानव जीवन में लोकमंगल की भावना, समता, एकता, संयम, शान्ति, विनयशीलता, सुख-समृद्धि प्रभृति सद्गुणों को प्रस्फुटित करने और विकसित करने में तथा सामाजिक समता की पुनर्स्थापना में प्रत्येक देश-काल व परिस्थिति में पूर्णतः प्रासंगिक है।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. आत्रेय, भीखमलाल, भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास, जॉब प्रिंटर्स, इलाहाबाद, १९६४, पृ. ६१२
२. मुनि, नथमल, नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण, आदर्श साहित्य संघ, मन्नालाल सुराना, जयपुर, १९६९, पृ. ६, १३-१४
३. स्टेस, डब्ल्यू. टी., दी कान्सेप्ट ऑफ मारल्स, दि मॅकमिलन कं. लि., लंदन, १९३७, पृ. १४३
४. प्रश्न व्याकरण सूत्र, २/१/२१/२२
५. सूत्रकृतांग सूत्र, १/४/१०
६. आचारांग सूत्र, १/४/१/१२७
७. सूत्रकृतांग, १/१/२/२३
८. जैन, सागरमल, जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग २, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, १९८२, पृ. २२३
९. दशवैकालिक, ८/३८
१०. सूत्रकृतांग सूत्र, १/१/२

समन्तभद्र की दृष्टि में सर्वज्ञता का स्वरूप – रत्नकरण्ड श्रावकाचार के आधार पर

ऋषभ जैन

आप्त के तीन लक्षण वीतरागता, निर्दोषता एवं सर्वज्ञता बताये गये हैं। आप्त के वचनों की प्रामाणिकता वीतरागता और निर्दोषता इन दो गुणों से अभिव्यक्त होती है। इन गुणों के ना होने पर वचनों की प्रामाणिकता संदिग्ध होगी। जो व्यक्ति वीतरागी और निर्दोष होगा वही सर्वज्ञता प्राप्त करेगा, क्योंकि दोनों में कार्य कारण भाव होता है। वीतरागता के बिना सर्वज्ञता प्राप्त नहीं होती। अतएव पहले वीतरागता रूप कारण का और पीछे सर्वज्ञता रूप कार्य का उल्लेख करना उचित है। फिर भी यह समझ लेना चाहिए कि सर्वज्ञता के लिए सामान्य वीतरागता की नहीं अपितु विशिष्ट एवं पूर्ण वीतरागता ही कारण है, क्योंकि सामान्य वीतरागता तो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती असंयत सम्यग्दृष्टि के भी पायी जाती है, परन्तु चतुर्थ गुणस्थान से सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती। वास्तव में किसी भी कार्य की सिद्धि के लिए समर्थ कारण (अन्यथा अनुपपत्तिरूप कारण) वही माना जा सकता है जिसके द्वारा प्रयत्न के अव्यवहित उत्तर क्षण में ही कार्य की निष्पत्ति हो जाय। फलत: सर्वज्ञता के लिए चतुर्थादि गुणस्थान की सामान्य वीतरागता समर्थ कारण नहीं है, किन्तु बारहवें गुणस्थान की पूर्ण वीतरागता ही समर्थ कारण है।

वीतरागता के प्रतिपक्षी मोह कर्म के उदय का ग्यारहवें गुणस्थान में सर्वथा अभाव है। परन्तु वहाँ भी सर्वज्ञता निष्पन्न नहीं हुआ करती क्योंकि यद्यपि प्रतिपक्षी मोह कर्म की प्रकृतियाँ यहाँ पर उपशांत हो गई हैं, प्रयत्न विशेष के कारण वे फल देने में कुछ काल के लिए असमर्थ हो गई हैं, परन्तु वे न तो निर्मूल ही हुई हैं, और न उनकी सामर्थ्य ही सदा के लिए नष्ट हुई है, उनकी सत्ता तो वहाँ बनी ही है। वास्तव में उनका अभी तक कर्मत्व ही नष्ट नहीं हुआ है। अतएव कहा जा सकता है कि इस ११वें गुणस्थान की वीतरागता निरापद नहीं हैं और इसीलिए सर्वज्ञता के लिए जिस वीतरागता को कारण कहा जा सकता है। वह १२वें गुणस्थान के अंतिम भाग की वह विशुद्धि विशेष ही है जहाँ पर कि एकत्व वितर्क अवीचार नाम का शुक्ल ध्यान होते ही ज्ञानावरणादि तीनों ही कर्मों का एक साथ निर्मूलन हो जाता है। अतएव सर्वज्ञता के लिए सामान्य वीतरागता की नहीं अपितु पूर्ण एवं विशिष्ट वीतरागता ही कारण है। समन्तभद्र ने वर्धमान का विशेषण "निधूर्त कलिलात्मा" कहा है जहां निधूर्त से

तात्पर्य विकार निर्मूलन (उच्छेदन) से है जो कि अन्यत्र नहीं पाया जाता और जिसके होने पर उक्त पाप कर्मों का आत्मा के साथ किसी प्रकार का अंशमात्र भी संबंध नहीं रह जाता है। विचारणीय है कि निर्धूत कलिलात्मा का अर्थ वीतरागता करना चाहिए अथवा निर्दोषता? प्रश्न हो सकता है कि वीतरागता और निर्दोषता में क्या अंतर है? उत्तर सहज है कि मोहकर्म के अभाव से वीतरागता और सम्पूर्ण दोषों के न रहने पर सर्वज्ञता हुआ करती है। जिनागम में १८ दोष गिनाये जाते हैं। वे मात्र मोह कर्म से ही सम्बन्ध नहीं रखते। उनका सम्बन्ध आठों कर्मों से है। वीतरागता और निर्दोषता में विषम व्याप्ति है न कि सम व्याप्ति अर्थात् जहाँ वीतरागता है वहाँ निर्दोषता भी हो यह नियम नहीं। परन्तु जहाँ निर्दोषता है वहाँ वीतरागता अवश्य हुआ करती है क्योंकि आश्चर्य आदि दोषों के कारणभूत ज्ञानावरणादि का जहाँ तक उदय रहता है वहाँ तक वास्तव में वीतरागता के रहते हुए भी निर्दोषता नहीं कही जा सकती। परन्तु यह बात सत्य है कि वीतरागता हो जाने पर ही निर्दोषता हुआ करती है। इसलिए आगम में सर्वज्ञ को १८ दोषों से रहित बताया है। न कि छद्मस्थ क्षीण मोह को। अतएव समन्तभद्र आप्त की वीतरागता के साथ साथ निर्दोषता भी सिद्ध करना चाहते हैं। पाँचवी कारिका में 'उच्छिन्न दोषेण' कहकर उन्होंने इस बात की भी पुष्टि की है। क्योंकि निर्दोष कहने से तो वीतरागता का अर्थ भी सम्मिलित हो जाता है परन्तु यदि वीतरागता मात्र ही अर्थ लिया जाए तो निर्दोषता का अर्थ नियमित रूप से उसमें गर्भित हो गया ऐसा नहीं कहा जा सकता है। वास्तव में वीतरागता के संबंध में केवल मोहनीय कर्म के अभाव से और निर्दोषता का संबंध सम्पूर्ण घातिकर्मों के निर्मूल हो जाने पर साथ साथ अन्य असाता वेदनीय आदि पापकर्मों के अपना अपना कार्य करने में असमर्थ हो जाने से भी है। तब वीतरागता की अपेक्षा निर्दोषता ही प्रधान और महान सिद्ध होती है। अतएव उस विशिष्ट धर्म को ही यहाँ बताना अधिक उचित एवं संगत प्रतीत होता है। देशना की पूर्णता ही कर्मों से है। आप्त पुरूषों में प्रामाणिकता के लिए वीतरागता और सर्वज्ञता इन दो गुणों की आवश्यकता है उनमें उत्पत्ति का क्रम भी ऐसा ही है कि पूर्ण वीतरागता के हो जाने पर ही सर्वज्ञता सिद्ध हुआ करती है।

आत्मा का विशेष गुण चेतना है उसकी आगम में तीन दशायें बताई गयी हैं - कर्मचेतना, कर्मफल चेतना और ज्ञानचेतना। सर्वज्ञता ज्ञानचेतना का सर्वोत्कृष्ट अन्तिम स्वरूप है। इसे दर्पण के दृष्टान्त से समझाया गया है। जैसे दर्पण के सामने आए हुए सभी पदार्थ उसमें स्वयं प्रतिबिंबित होते हैं। वैसे ही सर्वज्ञता में लोकालोक

के सभी द्रव्य, तत्त्व, पदार्थ एवं उनके गुणधर्म तथा त्रिकालवर्ती समस्त व्यंजनपर्यायें व अर्थपर्यायें युगपत् प्रतिभासित होते हैं। आशय यह है कि सर्वज्ञता की स्थिति में जीव की ज्ञान चेतना पूर्ण रूप से सदा के लिए निर्विकार हो जाती है तथा उसकी स्वच्छता एवं निर्मलता पराकाष्ठा को प्राप्त कर चुकी होती है। यद्यपि उसकी वृत्ति ध्रुवरूप से प्रकृति द्रव्य रूप से अन्तर्मुख बन गई है परन्तु समस्त चराचर त्रैकालिक जगत् उसमें प्रतिक्षण प्रतिभासित रहा करता है। चेतना का यह स्वभाव है कि पदार्थ उसमें प्रतिभासित हो जैसे दर्पण का स्वभाव है कि उसके सम्मुख जो भी पदार्थ जिस रूप में भी उपस्थित होता है वह वैसे ही उसमें प्रतिबिम्बित हुआ करता है। चेतना की स्वच्छता इससे भी अधिक और विचित्र है उसमें विद्यमान और अविद्यमान अनंतानंत पदार्थ युगपत् प्रतिभासित हुआ करते हैं। जिस तरह दर्पण किसी पदार्थ को देखने का स्वयं प्रयत्न नहीं करता परन्तु जो भी उसके सम्मुख आता है वह स्वयं ही दर्पण में दर्पण की स्वाभाविक स्वच्छता विशेष के कारण प्रतिबिम्बित हो जाया करता है उसी तरह सर्वज्ञ की चेतना पदार्थ को जानने का स्वयं प्रयत्न नहीं करती। जिस तरह अल्पज्ञ संसारी जीवों की चेतना विषयों की तरफ उन्मुख होकर क्रम से और योग्य पदार्थ को ही ग्रहण किया करती है। बाह्य तन में तो सभी जीवों का चेतना का स्वरूप ऐसा ही है किन्तु इन्द्रिय ज्ञानों में यह नाम हमारी समझ में नहीं आता कि इन्द्रिय ज्ञान भी बिना प्रयत्न के ही अपनी व्यक्त योग्यतानुसार ही ज्ञेयों को जानता है। वह चेतना पदार्थों की तरफ उन्मुख नहीं हुआ करती अपितु पदार्थ स्वयं ही ज्ञान के जानने में आते हैं। फिर वे पदार्थ विद्यमान अविद्यमान (भूत-भविष्यत्) रूप से कितने ही प्रमाण में क्यों न हों। वह सभी पदार्थों को एक साथ ग्रहण कर लेती है, ऐसा कहने का तात्पर्य यही है कि उसमें यह भी एक विशेषता आ जाती है कि उसमें फिर किसी भी तरह की न्यूनाधिकता नहीं होती। जिस तरह संसारी जीवों का ज्ञान न्यूनाधिक हुआ करता है वैसा सर्वज्ञ का नहीं होता। वह अपने जिस पूर्ण रूप को धारण कर प्रगट होता है वह फिर अनन्त काल तक उसी रूप में निरंतर प्रगट होता रहता है।

सर्वज्ञ नियम से वीतराग निर्दोष और सर्वज्ञानी होते हैं। मोहनीय कर्म के सर्वथा अभाव से जो वीतरागता उत्पन्न होती है वह सर्वज्ञता की उत्पत्ति के लिए समर्थ कारण है। *इसी तरह निर्दोषता की उत्पत्ति के लिए वीतरागता एवं सर्वज्ञता समर्थ* कारण के मिलने पर नियम से कार्य उत्पन्न हुआ करता है। अतएव सर्वज्ञता के साथ वीतरागता और निर्दोषता की व्याप्ति बनती है। कहा जा सकता है कि जो जो सर्वज्ञ

है वह तो नियम से वीतराग और निर्दोष है। किन्तु हितोपदेशकता के साथ साथ इस तरह की व्याप्ति नहीं है क्योंकि ज्ञान का वचन के साथ नियत संबंध नहीं है। जो जो ज्ञानवान हो वह वह वक्ता भी हो ऐसा नियम नहीं है यह सर्वमान्य रूप से अवश्य कहा जा सकता है कि किसी भी वक्ता के वचन की प्रामाणिकता उसकी वीतरागता निर्दोषता और ज्ञान पर निर्भर है। जो व्यक्ति जितना अधिक वीतराग और निर्दोष होने के साथ-साथ सम्यक्ज्ञानी है उसके वचन भी उतने ही अधिक प्रमाणभूत हुआ करते हैं। अतएव जो पूर्ण वीतरागी, पूर्ण निर्दोष और पूर्ण ज्ञानवान है उसके वचन भी पूर्णतया प्रमाण रूप ही हैं।

आप्त शब्द का सामान्यतया प्रसिद्ध अर्थ यह है कि 'यो यत्रावंचक: स: तत्र आप्त:' अर्थात् जो जिस विषय में अवंचक है वह उसी विषय में आप्त है। किन्तु यहाँ तात्पर्य है कि जिसने ज्ञानावरणादि चार घाति कर्मों को नष्ट करके अपने शुद्ध ज्ञानादि गुणों को प्राप्त कर लिया है उसे आप्त कहते हैं। अन्य प्रकार से आप्तत्व बन ही नहीं सकता। इसी प्रकार 'आ समन्तात् गम्यते बुध्यते वस्तु तत्त्वं येन यस्माद्वा' अर्थात् प्रत्येक दृष्टि से जिसके द्वारा समस्त वस्तु तत्त्व का परिज्ञान हो उसको आगम कहते हैं। ऐसे वचन सर्वज्ञ के ही होते हैं। श्रुत का विषय सामान्यतया केवलज्ञान की समकोटि में बताया है, उनमें केवल प्रत्यक्ष और परोक्ष का अन्तर है।

जगत में भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय वालों ने आप्त का स्वरूप भी भिन्न भिन्न प्रकार से ही माना है। यद्यपि ये मान्यतायें अनेक हैं, फिर भी इनको सामान्यत: सात भागों में विभक्त किया जाता है। यहाँ पर आप्त के तीन विशेषण दिये गये हैं - १. उत्सन्न दोष, २. सर्वज्ञ, ३. आगम का ईश। प्र.त में आप्त से अभिप्राय श्रेयोमार्ग रूप धर्म के उपज्ञ बल से है। जिसमें इन तीनों ही विशेषणों का रहना आवश्यक है। संसार में आप्त के स्वरूप के विषय में जब अनेक तरह की मिथ्या मान्यतायें प्रचलित हो रहीं हैं। और जगत के प्राणी उनमें भ्रमित हो रहे हों अथवा उनको मानकर गृहीत मिथ्यात्व के द्वारा दु:ख रूप संसार में भ्रमण कर रहे हों, तब वास्तविक आप्त और आचार्यों का स्वाभाविक कर्तव्य हो जाता है कि वे उनकी भ्रान्त धारणाओं को दूर करने के लिए उनके अज्ञानतम को नष्ट करने के लिए उनके समक्ष यथार्थ वस्तुस्वरूप के प्रकाश को उपस्थित करें जिससे वे श्रेयोमार्ग में निर्विघ्नतया चलकर शुद्ध सत्य और शाश्वत सुख को प्राप्त कर सकें। आप्त के इन तीन विशेषणों के आधार पर कहा जा सकता है कि

इनमें से कोई भी विशेषता यदि न मानी जाय तो निश्चित ही आप्तपना नहीं बन सकता।

आप्त शब्द का लोक में प्रसिद्ध अर्थ यह है कि जो सत्य का ज्ञाता हो और रागद्वेषादि से रहित सत्य का उपदेश करने वाला हो। आप्तता दो प्रकार से होती है। १-लौकिक २-पारलौकिक। लोक प्रसिद्ध अर्थ लौकिक आप्त के विषय में समझना चाहिए। यहाँ हम परलौकिक आप्त की चर्चा कर रहे हैं। आप्त शब्द का एक प्रसिद्ध अर्थ यह भी है कि जो जिस विषय में अवंचक है वह उस विषय में आप्त माना जाता है। यह बात दृष्टि में रहना जरुरी है कि अवंचकता के लिए वास्तव में अज्ञान और कशाय इन दो दोषों का निर्हरण अत्यावश्यक है यहाँ पारलौकिक आप्त का स्वरूप बताया है वह लौकिक अर्थों का विरोधी नहीं है फिर भी इस कथन से यह बात अवश्य ही स्पष्ट होती है कि लोक प्रसिद्ध अर्थ पर्याप्त नहीं है वह लौकिक विषयों तक सीमित होने से आंशिक है। पारलौकिक आप्त लौकिक एवं पारलौकिक सभी विषयों की प्रमाणिकता पर प्रकाश डालता है। जिस तरह श्रुति से अविरुद्ध ही स्मृतियां प्रमाण मानी जाती हैं न कि स्वतंत्र अथवा श्रुति से विरुद्ध। इसी तरह प्रकृत विषय में समझना चाहिए। पारलौकिक आप्त से जो अविरुद्ध हैं वे ही लौकिक आप्त प्रमाण माने जा सकते हैं, न कि स्वतंत्र तथा पारलौकिक आप्त के विरुद्ध वचन करने वाले।

श्रेयोमार्ग रूप धर्म के व्याख्यान और उसकी प्रामाणिकता का मूल आप्त ही है। जिस तरह नींव के बिना मन्दिर या जड़ के बिना वृक्ष टिक नहीं सकता उसी तरह तथाभूत आप्त के बिना धर्म के वास्तविक स्वरूप का न तो किसी को परिज्ञान ही हो सकता है और न उसके विषय में प्रमाणिकता का विश्वास ही हो सकता है। जगत में इस सम्बन्ध में काल्पनिक मान्यतायें प्रचलित हैं। जिनको न तो युक्तियों का ही समर्थन प्राप्त है और न जिनको अनुभव ही स्वीकार करता है। इसके अलावा इस कथन के करने वाले वे शास्त्र ही स्वयं पूर्वापर व परस्पर विरोध एवं भिन्न भिन्न प्रकार के अर्थ करने वाले आचार्यों की विरुद्ध निरूपणाओं के कारण अप्रामाणिक ठहर जाते हैं। कोई कोई धर्म व्याख्याता आगमवेद को अनादि मानते हैं, जबकि यह बात स्पष्ट है कि कोई भी शब्द विशेष उसके वक्ता के बिना प्रवृत्त नहीं हो सकता। कोई उसको अपौरूषेय अशरीर ईश्वर कृत बताते हैं किन्तु कोई भी विचारशील यह समझ सकता है कि शरीर के बिना ऐसे शब्दों की रचना, उत्पत्ति, कथन किस प्रकार से हो सकता है। कोई कोई उसको हिंसा जैसे महापाप का विधायक भी स्वीकार करते हैं और

कोई कोई उन्हीं वाक्यों का भिन्न भिन्न प्रकार का अर्थ बताते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। उन्हें यह कहते हुए सुना जाता है वेद विहित हिंसा को हिंसा नहीं कहते। ऐसी अवस्था में जबकि उसका मूल वक्ता ही सिद्ध न हो अथवा जिसमें संसार भ्रमण एवं महान दु:ख परम्परा के कारणभूत हिंसा जैसे महापाप का समर्थन पाया जाता है अनेक परस्पर स्ववचन बाधित तथ्यों से भरा पड़ा हो उसका वक्ता सशरीर नहीं हो तब यहाँ उसका वक्ता प्रामाणिक और निर्दोष है यह बात कौन विचक्षण स्वीकार करेगा? उसे कौन प्रमाण मानेगा और वह किसके अनुभव में आ सकेगा। यह तो हठाग्रहपूर्वक असत्य का स्वीकार कराना है। इसके सिवाय अन्य लोगों ने आप्त का जैसा कुछ स्वरूप माना है उसको देखते हुए न तो उनकी सर्वथा निर्दोषता ही सिद्ध होती है और न सर्वज्ञता ही। क्योंकि कोई भी इस बात को स्वीकार नहीं करेगा कि वीतरागता एवं सर्वज्ञता के बिना यदि कोई भी व्यक्ति कुछ भी बोलता है तो उसके वचनों में स्वत: प्रमाणिकता कभी भी नहीं मानी जा सकती। फिर धर्म जैसे विषय में तो उसे प्रामाणिक वक्ता माना ही कैसे जा सकता है? क्योंकि धर्म का संबंध इन्द्रिय अगोचर आत्मा और परलोक से है जिसका कि सत्य पूर्ण एवं स्पष्ट ज्ञान सर्वज्ञ को ही हो सकता है। वह सर्वज्ञता भी जिसके द्वारा मूर्त अमूर्त सभी पदार्थ उनके गुणधर्म और उनकी त्रैकालिक सम्पूर्ण अवस्थाओं का युगपद साक्षात्कार हुआ करता है तब तक प्राप्त नहीं हो सकती जब तक कि वह व्यक्ति साधारण संसारी जीवों में पाये जाने वाले अज्ञान और कशाय जैसे दोषों से रहित नहीं हो जाता। अस्तु यह बात युक्तियुक्त और अच्छी तरह अनुभव में आने वाली है कि इन दोनों ही गुणों सर्वज्ञता और वीतरागता को प्राप्त किए बिना कोई भी व्यक्ति आगम सिद्ध विषयों के प्रामाणिक वर्णन करने का यथार्थत: अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता। अतएव मोक्षमार्ग के वक्ता आप्त में इन दोनों ही गुणों का रहना अत्यावश्यक है। इन दोनों गुणों का आप्त में रहना जैनागम में बताया गया है। अतएव उसका ही प्रतिपादित धर्म निर्दोष एवं सत्य होने के कारण विश्वसनीय, आदरणीय, हितोपदेशी, कल्याणकारी तथा आचरणीय है।

आप्त के दोनों विशेषणों में यह बात भी जान लेनी चाहिए कि इनमें उत्तरोत्तर के प्रति पूर्व कारण हैं। तात्पर्य यह है कि निर्दोषता (वीतरागता) सर्वज्ञता का कारण है, दोषों का नाश हुए बिना सर्वज्ञता प्राप्त नहीं हो सकती और सर्वज्ञता हुए बिना आगमेशित्व (आगम का प्रामाणिक प्रवक्ता) बन नहीं सकता। क्योंकि इन दोनों गुणों

को प्राप्त किये बिना यदि कोई आगम के विषय का प्रतिपादन करे तो वह यथार्थ एवं प्रमाणभूत नहीं माना जा सकता। आगम का विषय परोक्ष है। न तो इन्द्रिय गोचर है और न ही अनुमेय है। ऐसे विषय में पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान ही प्रवृत्त हो सकता है। एकदेश प्रत्यक्षज्ञान भी विषय के सर्वांशों को ग्रहण नहीं कर सकता। अतएव श्रेयोमार्ग या धर्माधर्म तथा उसके फल का यथार्थ वर्णन सर्वज्ञता के द्वारा ही हो सकता है और वही प्रमाण माना जा सकता है। यह सर्वज्ञता तब तक प्राप्त नहीं हो सकती जब तक कि वह व्यक्ति समस्त दोषों को निर्मूल नहीं कर देता। इसलिए पूर्व पूर्व को कारण और उत्तरोत्तर को कार्य मानना उचित एवं संगत ही है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरोत्तर के प्रति पूर्व पूर्व की व्याप्ति नियत है। अर्थात जहाँ आगमेशिता है वहाँ सर्वज्ञता भी अवश्य है और जहाँ सर्वज्ञता है वहाँ निर्दोषता वीतरागता भी नियत है, किन्तु इसके विपरीत यह नियम नहीं है कि जहाँ जहाँ वीतरागता है वहाँ सर्वज्ञता भी है और जहाँ जहाँ सर्वज्ञता है वहाँ वहाँ आगमेशित्व भी नियत है क्योंकि क्षीणमोहनिर्ग्रंथ निर्दोष वीतराग तो कहे जा सकते हैं परन्तु वे सर्वज्ञ नहीं कहे जा सकते हैं। यद्यपि वह वीतरागता सर्वज्ञता का साधन है। हाँ यह बात ठीक है कि राग द्वेष और मोह का अभाव हो जाने से प्राप्त हुई निर्दोषता (वीतरागता) के बिना घातित्रय का अभाव अथवा सर्वज्ञता की सिद्धि नहीं हो सकती। इसी तरह यह भी नियम नहीं है कि जो जो सर्वज्ञ हों वे सब आगम के ईश या उपज्ञ वक्ता हों ही।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लो. १

२. आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लो,
नमः श्री वर्द्धमानाय निर्धूत कलिलात्मने।
सालोकानां त्रिलोकानां यद् विद्या दर्पणायते।।

३. आचार्य समन्तभद्र, देवागम स्तोत्र, का. ५, आप्तेनोच्छिन्न दोषेण

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY PUBLICATIONS

Daya Krishna, A. M. Ghose (eds), Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives. Rs. 10/-

S.V. Bokil (Tran.) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs. 25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs. 10/-

Ramchandra Gandhi (ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs. 50/-

S. S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs. 70/-

Daya Krishana, A. M. Ghose and P. K. Srivastv (eds), The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs. 60/-

M. P. Marathe, Meena Kelkar and P. P. Gokhale (eds), Studies in Jainism, Rs. 50/-

R. Sunder Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S. S. Barlingay(ed), A Critical Survey Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs. 50/-

R. K. Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs. 25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs. 30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs. 100/-

Contact :

The Editor,

Indian Philosophical Quarterly
Departrrien of Philosophy
Savitribai Phule Pune University,
Pune - 411007

जैन दर्शन में मन का स्वरूप

सचिन्द्र जैन

ज्ञानशक्ति आत्मा का धर्म है पर उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम शरीर के अवयव बनते हैं। जिस प्रकार बोलने के शक्ति उसके प्रायोग्य पुद्गलों का ग्रहण एवं परिणमन तथा बोलने का प्रयत्न ये सब आत्मा के बिना नहीं हो सकते यह जितना सत्य है उतना ही यह भी सत्य है कि ये केवल आत्मा से नहीं हो सकते। वाचिक प्रवृत्ति के समान शारीरिक और मानसिक भी सशरीरी *आत्मा का गुण है। शरीर और आत्मा* का सांयोगिक परिणमन है। बाह्य पदार्थ के आलोचन में जैसे इन्द्रियों की अपेक्षा होती हैं वैसे ही उस पदार्थ के विषय विचारणा, ईहा, अपोह आदि विचार विमर्श तथा वाच्य वाचक का ज्ञान करने के लिए जिस करण की अपेक्षा होती है उसका नाम है-मन।

समग्र संकल्प इच्छाएँ, कामनाएँ एवं राग द्वेष की वृत्तियाँ आदि अधिकांश नैतिक प्रत्यय मन प्रसूत हैं, मन ही सद्-असद् का विवेक करता है। यही हमारे शुभा-शुभ भावों का आधार है, अतः मन के स्वरूप पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

चित्तं मनो मानसं विञआणं हृदयं मनं।
नामानि तानि वोहारपथे वच्चन्ति पायतो।।[1]

शाब्दिकों के अनुसार चित्त, चेता, हृदय, स्वान्त और मानस ये मन के पर्यायवाची शब्द हैं।[2]

मन का स्वरूप

मन के स्वरूप के विषय में मुख्यतः तीन अवधारणाएँ हैं। न्याय, वैशेषिक एवं मीमांसक के अनुसार मन नित्य है जबकि सांख्य, योग एवं वेदान्त दर्शन के अनुसार मन को अनित्य मानते हैं। बौद्ध दर्शन भी मन को क्षणिक मानता है। जैन दर्शन के अनुसार कोई भी पदार्थ सर्वथा नित्य वा अनित्य नहीं होता अतः मन को भौतिक और अभौतिक मानता है।

द्रव्यमन और भावमन

जैन दर्शन में मन के भौतिक स्वरूप को द्रव्यमन और चेतन रूप को मन कहा गया है।[3] द्रव्यमन मनोवर्गणा नामक परमाणुओं से बना है। यह मन का आंगिक एवं संरचनात्मक पक्ष है। साधारणतया इसमें शरीर के सभी ज्ञानात्मक एवं संवेदनात्मक

अंग आ जाते हैं। मनोवर्गणा के परमाणुओं से निर्मित उस भौतिक रचना तंत्र में प्रवाहित होने वाली चैतन्यधारा भावमन है। दूसरे शब्दों में इस रचना तंत्र को आत्मा से मिली हुई ज्ञान, वेदना एवं संकल्प की चैतन्य शक्ति ही भावमन है।

मन का स्थान

एक प्रश्न यह भी उठता है कि द्रव्यमन और भावमन शरीर के किस भाग में स्थित हैं? द्रव्यमन की दो अवधारणाएँ हैं- दिगम्बर परंपरा के अनुसार द्रव्यमन मनोवर्गणा के पुद्‌गलों से बना हुआ है, इसकी आकृति आठ पखंडी वाले कमल जैसी है। यह वीर्यान्तराय एवं नो इन्द्रियावरण के क्षयोपक्षम तथा नामकर्म के उदय से होता है। इस द्रव्यमन का स्थान हृदय है।[४] श्वेताम्बर परंपरा में हृदय कमल वाली मान्यता नहीं है। उनके अनुसार मननकाल में बननेवाली मनोवर्गणा के पुद्‌गलों की आकृतियाँ ही द्रव्यमन है। इस प्रकार उनका स्थान हृदयमात्र हो- यह प्रतीत नहीं होता। जहाँ तक भावमन का प्रश्न है उसका स्थान आत्मा ही है, क्योंकि आत्मप्रदेश समस्त प्रदेश में व्याप्त है। जहाँ-जहाँ चैतन्य की अनुभूति होती है वहाँ वहाँ भावमन अपना आसन बिछाए हुए है। इस प्रकार भावमन का स्थान सम्पूर्ण शरीर ही सिद्ध होता है।[५]

मन का कार्य

मनन करना मन है अथवा जिसके द्वारा मनन किया जाता है वह मन है। (मननं मन्यते अनेन वा मनः) इस व्युत्पत्ति के आधार पर मन का कार्य मनन-चिंतन वह इन्द्रिय जन्य ज्ञान में निमित्त तो बनता ही है इन्द्रिय निरपेक्ष, इच्छा, द्वेष, सुख, दुख आदि की अनुभूति में भी कारणीभूत है। जैन दर्शन में इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि आत्मा की वैभाविक परिणतियाँ है अतः भावमन से उनकी ज्ञप्ति में कोई असंगति प्रतीत नहीं होती। जैन विचारणा में बन्धन के लिए अमूर्त आत्म तत्त्व और जड कर्म का जो सम्बन्ध स्वीकृत है। उसके व्याख्या के लिए मन के स्वरूप का यही सिद्धान्त अभिप्रेत हैं, अन्यथा जैन दर्शन की बंधन और मुक्ति की अवधारणा ही असम्भव होगी। जड और चेतन के मध्य सम्बन्ध मानने के कारण मन को उभयरूप मानना आवश्यक है। जैन विचार में मन उभयात्मक होने के कारण ही जड कर्म वर्गणा और चेतन आत्मा के मध्य योजक कडी बन गया है। मन की शक्ति चेतना में है और उसका कार्यक्षेत्र भौतिक जगत् है। जड पक्ष की ओर से वह भौतिक पदार्थों से प्रभावित होता है और चेतन पक्ष की ओर से आत्मा को प्रभावित करता है। इस प्रकार जैन दार्शनिक मन के द्वारा आत्मा और जड तत्त्व के मध्य अपरोक्ष सम्बन्ध

बना देते है। इस सम्बन्ध के आधार पर ही बन्धन की धारणा सिद्ध करते है। मन, जड और चेतन के मध्य अवस्थित एक ऐसा माध्यम है जो दोनों स्वतंत्र सत्ताओं में सम्बन्ध बनाये रखता है। जब तक यह माध्यम रहता है तब तक जड तथा चेतन जगत् में पारस्परिक प्रभावकता रहती है, जिसके कारण बंधन का सिलसिला चलता रहता है। निर्वाण की प्राप्ति के पहले मन के उभय पक्षों को अलग करना होता है। इससे मन की शक्ति क्षीण होने लगती है और अन्त में मन का विलय हो जाने पर निर्वाण प्राप्त हो होता है। निर्वाण दशा में उभयात्मक मन का अभाव होने से बंधन की सम्भावना नहीं रहती। मन के इस विशाल कार्यक्षेत्र के विषय में जैन दर्शन के अतिरिक्त किसी भी दर्शन या दार्शनिक ने इतनी स्पष्टतापूर्वक चर्चा की है, प्रतीत नहीं होता।

अब जरा विचार करें कि मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण क्यों है? इस पर विचार कर हम पाते हैं कि जैन तत्त्वमीमांसा में जड और चेतन दो मूल तत्त्व है, शेष आस्रव, संवर, बन्ध, मोक्ष और निर्जरा इन दो मूलतत्त्वों के सम्बन्ध की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। शुद्ध आत्मा तो बन्धन का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाओं (योग) का अभाव है। दूसरी ओर मनोभाव से रहित कायिक और वाचिक कर्म एवं जड कर्म परमाणु भी बन्धन कारक नहीं होते हैं। बन्धन के कारण राग, द्वेष, मोह आदि मनोभाव आत्मिक अवश्य माने गये हैं, लेकिन इन्हें आत्मगत इसलिए माना गया है कि बिना चेतन सत्ता के ये उत्पन्न नहीं होते हैं। चेतन सत्ता रागादि के उत्पादन का निमित्त कारण अवश्य है बिना मन के वह रागादि भाव उत्पन्न नहीं कर सकती और वे ही बन्धन के हेतु हैं। अतः मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण है। बंधन और मुक्ति की दृष्टि से मन की अपार शक्ति मानी गई है। बंधन की दृष्टि से वह पौराणिक ब्रह्मास्त्र से भी भयकंर है। कर्म सिद्धांत का एक विवेचन है कि मात्र काययोग से मोहनीय जैसे कर्म का बन्धन उत्कृष्ट रूप में एक सागर[६] की स्थिति का हो सकता है। वचनयोग मिलते ही पच्चीस सागर की स्थिति का उत्कृष्ट बन्ध हो सकता है। घाणेन्द्रिय अर्थात् नासिका के मिलने से पचास सागर और चक्षु के मिलते ही सौ सागर की स्थिति का बन्ध हो सकता है और जब जब अमनस्क पंचेन्द्रिय की दशा में कान मिलते हैं तो हजार सागर तक का बन्ध हो सकता है। लेकिन यदि मन मिल गया और उत्कृष्ट मोहनीय कर्म का बन्ध होने लगा तो वह लाख और करोड सागर को पार कर जाता है। सत्तर कोडा-कोडी (७० करोड X ७० करोड) सागरोपम का सर्वोत्कृष्ट मोहनीय कर्म का बन्ध मन मिलने पर

ही होता है। यह हैं बन्धन की दृष्टि से मन की अपार शक्ति इसलिए मन को खुला छोडने से पहले मनन करना चाहिए कि वह आत्मा को किसी गहन गर्त में तो नहीं धकेल रहा हैं?

जैन दर्शन में मन मुक्ति के मार्ग का प्रथम प्रवेशद्वार है। वहाँ केवल समनस्क प्राणी ही इस मार्ग पर आगे बढ सकते हैं। अमनस्क प्राणियों को तो इस राजमार्ग पर चलने का ही अधिकार प्राप्त नहीं है। सम्यक्दृष्टि केवल समनस्क प्राणियों को ही प्राप्त हो सकती है और वे अपने साधना द्वारा मोक्ष की ओर बढने के अधिकारी है। सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिए तीव्रतम क्रोधादि आवेगों का संयमन आवश्यक है, क्योंकि मन के द्वारा ही आवेगों का संयमन सम्भव है। इसलिए कहा गया है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए की जानेवाली ग्रन्थभेद की प्रक्रिया में यथाप्रवृत्तिकरण तब होता है जब मन का योग होता है। मन के संयमन से एकाग्रता आती है, जिससे ज्ञान (विवेक) प्रकट होता है और उस विवेक से सम्यक्त्व अथवा शुद्ध दृष्टिकोण की उपलब्धि होती है और अज्ञान (मिथ्यात्व) समाप्त हो जाता है।[७] इस प्रकार अज्ञान का निवर्तन और सत्य दृष्टिकोण की उपलब्धि जो मुक्ति (निर्वाण) की अनिवार्य शर्त है, बिना मन शुद्धि के सम्भव नहीं है। अतः जैन दर्शन में मन मुक्ति का आवश्यक हेतु है। शुद्ध संयमित मन निर्वाण का हेतु बनता है, जबकि अनियंत्रित मन ही अज्ञान अथवा मिथ्यात्व का कारण होकर प्राणियों के बन्धन का हेतु है। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं मन का निरोध हो जाने पर कर्म (बंधन) भी पूरी तरह रूक जाते हैं, क्योंकि कर्म का आस्रव मन के अधीन है, लेकिन जो पुरुष मन का निरोध नहीं करता है उसके कर्मों (बन्धन) की अभिवृद्धि होती रहती है।[८]

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. विभज्यवाद, पृ. १४३
२. अमरकोश, ५/३१
३. अभिधान राजेन्द्र खंड ६ पृ. ७४
४. गोम्मटसार, जीवकांड गाथा ४४२.
५. दर्शन और जीवन, भाग १ पृ. १४०
६. सागर समय का माप विशेष
७. उत्तराध्ययन सूत्र, २९/५६
८. योगशास्त्र, ४३८

जैन अवक्तव्यता और बौद्ध अव्याकृतवाद : एक तुलनात्मक विवेचन

डॉ. भिखारी राम यादव

जैन दर्शन की मान्यता है कि सभी वस्तुएँ अनन्त धर्मात्मक हैं और व्यवस्थानुसार प्रत्येक वस्तु के प्रत्येक धर्म के लिए अलग-अलग शब्द निर्धारित किये गये हैं जैसे लालिमा के लिए लाल, कालिमा के काला शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार अन्य धर्मों के लिए अन्य शब्दों का प्रयोग किया जाता है। किन्तु वस्तुओं के अनन्त गुण-धर्मों को सम्बोधित करने के लिए भाषा के पास अनन्त शब्द नहीं हैं। तथापि यदि शब्द संयोग से अनन्त वस्तुओं के अनन्त गुण-धर्मों के लिए भिन्न-भिन्न शब्द प्रतीक बनायें जाए तो उन अनन्त गुण धर्मों का भी वाचन संभव हो सकता है। किन्तु हमारी भाषा में ऐसा कोई शब्द नहीं बन सकता, जो वस्तु के अनन्त गुण धर्मों को एक साथ युगपततः अभिव्यक्त कर सके, क्योंकि भाषा के एक शब्द के द्वारा एक गुण या धर्म का ही वाचन संभव है। इसलिए जब दो या दो से अधिक धर्मों के एक साथ प्रतिपादन की अपेक्षा होती है, तब शब्द असमर्थ हो जाता है। शब्द की इसी असमर्थता को प्रकट करने के लिए जैन दर्शन में अवक्तव्य का विधान किया गया है।

एक अन्य बात यह है कि वस्तु के सम्पूर्ण धर्म एक दूसरे से परस्पर भिन्न हैं। इसलिए उन परस्पर भिन्न धर्मों के प्रतिपादक शब्द भी परस्पर भिन्न हैं, साथ ही, भाषा में कोई ऐसा उभयात्मक शब्द नहीं है जो वस्तु के उन परस्पर भिन्न-भिन्न धर्मों को एक साथ अभिव्यक्त कर सके। इसलिए भी जब उन परस्पर भिन्न-भिन्न धर्मों को एक साथ कहने की अपेक्षा होती है तब उन्हें अवक्तव्य ही कहना आवश्यक हो जाता है। अवक्तव्य के इसी आशय का प्रतिपादन करते हुए श्लोकवार्तिक[१] में कहा गया है कि जब शुक्ल और कृष्ण वर्ण परस्पर भिन्न हैं तब उनका संसृष्ट रूप एक नहीं हो सकता। जिससे एक शब्द से कथन हो सके। कोई एक शब्द या पद दो गुणों का युगपत वाचक नहीं हो सकता। यदि ऐसा मानेंगे तो सत् शब्द सत्त्व की तरह असत्त्व का भी वाचन करने लगेगा तथा असत् शब्द सत्त्व का। पर ऐसी लोक प्रतीति नहीं है, क्योंकि प्रत्येक धर्म के वाचक शब्द अलग-अलग हैं। इस तरह कालादि दृष्टि से युगपत् भाव की संभावना नहीं है तथा उभयवाची कोई एक शब्द है नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि शब्द एक काल में एक ही गुण-धर्म का वाचक हो सकता है दो या दो से अधिक गुण धर्मों का नहीं। सप्तभंगीतरंगिणी में भी कहा गया है कि सभी

शब्द एक काल में ही प्रधानता से सत्त्व और असत्त्व दोनों का युगपत् प्रतिपादन नहीं कर सकते, क्योंकि उस प्रकार प्रतिपादन करने की शक्ति शब्द में नहीं है क्योंकि सभी शब्दों में एक ही पदार्थ को विषय करना सिद्ध है।[२] अतः जो सत्त्वादि धर्मों में से किसी एक धर्म के द्वारा पदार्थ वाच्य है, वही सत्त्व, असत्त्व, उभय धर्म से अवाच्य है।[३]

इससे यह स्पष्ट है कि कालक्रम से वस्तु के अस्ति, नास्ति आदि धर्म पृथक् पृथक् रूप से किसी उद्देश्य के विधेय भले ही बन जाय, पर युगपत् रूप से किसी उद्देश्य का विधेय बनना असम्भव ही है। यही शब्द की असमर्थता है, वाणी की निरीहता है। इसी को अभिव्यक्त करना अवक्तव्य का उद्देश्य है। पुनः श्लोकवार्तिक में इसे स्पष्ट किया गया है- "जब दो प्रतियोगी गुणों के द्वारा अवधारण रूप से युगपत् एक काल में एक शब्द से समस्त वस्तु के कहने की इच्छा होती है तो वस्तु अवक्तव्य हो जाती है, क्योंकि वैसा शब्द और अर्थ नहीं है।"[४]

इस प्रकार अवक्तव्य का मूलार्थ है युगपत् कथन में भाषा की असमर्थता, अवक्तव्यता, निरीहता व विवशता को स्पष्ट करना। स्पष्ट है कि यहाँ अवक्तव्य के दो अर्थ हो जाते हैं :

१. वस्तु के समग्र स्वरूप को अवाच्य कहना और २. वस्तु के किन्ही दो धर्मों को युगपततः अव्याख्येय कहना। अवक्तव्य के इन दोनों ही रूपों का विवेचन जैनागमों में सर्वत्र प्राप्त होता है। डॉ. रामजी सिंह ने अवक्तव्य के इन स्वरूपों का विवेचन करते हुए कहा है कि "वस्तु का स्वरूप कुछ इतना संश्लिष्ट एवं सूक्ष्म होता है कि शब्द उसके अखण्ड अन्तस्थल तक नहीं पहुँच पाते हैं। फिर भी उसका वर्णन तो किया ही जाता है। पहले अस्ति रूप वर्णन होता है किन्तु जब वहीं अपर्याप्तता और अपूर्णता प्रकट होती है तो उसका नास्ति रूप वर्णन होता है किन्तु फिर भी जब वस्तु की वास्तविक एवं अनन्तसीमा को वह छू नहीं पाता है तो अस्ति एवं नास्ति के युगपत् उभय रूप में वर्णन करने का प्रयास करता है। लेकिन फिर भी वह वस्तु की समग्र वास्तविकता का जब दर्शन नहीं कर पाता है तो वाणी की निरीहता, शब्द की अक्षमता एवं असमर्थता पर खींझकर उसे अवक्तव्य, अनिर्वचनीय, अव्याकृत, अगोचर, वचनातीत आदि कह देता है या मौन धारण कर लेता है।"[५] पुनः उन्होंने अवक्तव्य के दूसरे अर्थ को प्रस्तुत करते हुए कहा है, अवक्तव्य का अर्थ अस्ति एवं नास्ति का युगपत् वर्णन करने की शाब्दिक अक्षमता है। दोनों अर्थों में वस्तु तत्त्व के स्वरूप प्रकाशन में वाणी की असमर्थता को ही 'अवक्तव्य' कहा जायेगा। लेकिन पहले अर्थ

में अव्यक्तव्य वाणी की सामान्य एवं व्यापक असमर्थता है, अन्तिम अर्थ में अवक्तव्य दो धर्मों को युगपत् नहीं कह सकने की दृष्टि।[६] जो भी हो, कुल विवेचन का अर्थ यह है कि वाणी कहीं भी युगपततः प्रतिपादन में असमर्थ है, चाहे वह वस्तु के समग्र स्वरूप को लेकर हो या किन्हीं दो धर्मों का लेकर हो।

इसके अतिरिक्त एक अन्य बात यह है कि भाषा वस्तु के किसी धर्म को हू-ब-हू प्रस्तुत करने में असमर्थ है। भाषा वैज्ञानिकों की ऐसी मान्यता है कि अर्थ बोध की प्रक्रिया में शब्द अपने अर्थ या विषय का प्रतिनिधित्व तो करते हैं पर उनका हू-ब-हू बोध नहीं करा पाते हैं। क्योंकि उनकी वाच्यता-सामर्थ्य सीमित है। शब्द की शक्ति की इस सीमितता का कारण यह है कि अनुभूतियों एवं भावनाओं की जितनी विविधतायें है उतने शब्द नहीं हैं। अपने वर्ण्य-विषय की अपेक्षा शब्द-संख्या और शब्द-शक्ति दोनों ही सीमित है।[७] जैसे एक शब्द मीठा है। यह शब्द गन्ने की मिठास, गुड की मिठास, आम की मिठास, रसगुल्ले की मिठास, तरबूज की मिठास आदि सब को सम्बोधित करता है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या सबकी मिठास एक ही तरह की है। निश्चय ही, सबकी मिठास अलग-अलग है। एक तरह की नहीं है फिर भी हम एक ही शब्द का प्रयोग सबके लिए करते हैं। यह हमारी विवशता है। इसी संदर्भ में एक दूसरी बात यह है कि शब्द अपने अर्थ या विषय की ठीक ठीक अनुभूति अपने श्रोता को नहीं करा पाता है। जैसे यदि किसी ऐसे व्यक्ति के समक्ष गुड का विवेचन किया जाय जिसने कभी गुड का स्वाद नहीं लिया है। तब लाख प्रयत्न करके भी हम उसे गुड के मिठास की अनुभूति शब्द द्वारा नहीं करा सकते हैं। इसी प्रकार जिसने एक वस्तु को कभी नहीं देखा है यदि उसके समक्ष हम अनेक उपमाओं या उदाहरणों द्वारा उसकी व्याख्या करें तो लाख प्रयत्न करने पर भी हम उसको उस प्रकार नहीं समझा सकते हैं जिस प्रकार वह उसे एक बार देखकर समझ लेता है। अतः स्पष्ट है कि यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु या धर्म का बोध शब्द द्वारा दृष्यमान् रूप में या अनुभूति में करना या कराना चाहे तो उसे अवक्तव्य ही कहना पडेगा। यही जैन के अवक्तव्य का लक्ष्य है। इस प्रकार जैन अवक्तव्य के द्वारा तत्त्व विवेचन के साथ-साथ भाषा की अशक्यता /असमर्थता/ विवशता को अभिव्यक्त करता है। इसी तरह की मिलती-जुलती विचारधारा बौद्ध धर्म में भी है। जिसे अव्याकृतवाद कहते हैं। भगवान् बुद्ध तत्कालीन तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों के संदर्भ में या तो मौन रहे या उन्हें असमुचित कह कर टाल दिये और उनके संदर्भ में यदि कुछ कहना ही आवश्यक हुआ तो

उन्होंने उन्हें अव्याकृत या अव्याख्येय कहा। वे तत्त्वमीमांसीय प्रश्न चार कोटियों में रखे गये हैं। १. लोक की नित्यता- अनित्यता का प्रश्न २. लोक की सान्तता- अनन्तता का प्रश्न ३. जीव-शरीर के भेदाभेद का प्रश्न और ४. जीव की नित्यता- अनित्यता का प्रश्न।

ये ही प्रश्न बुद्ध के समय के प्रमुख दार्शनिक प्रश्न थे। इन्हीं प्रश्नों को लेकर उन दिनों तरह-तरह के वाद-विवाद चल रहे थे। इन्हीं प्रश्नों को बुद्ध ने अव्याकृत या अव्याख्येय कहा था। उनके सम्मुख प्रमुख समस्या यह थी कि यदि लोक या जीव को मात्र नित्य कहा जाय तो शाश्वतवाद को स्वीकार करना पडेगा और यदि उसे मात्र अनित्य कहा जाय तो अशाश्वतवाद या उच्छेदवाद को मानना पडेगा। जबकि वास्तव में एकान्तिक रूप से ये दोनों की मतवाद दोषपूर्ण हैं। इसलिए इन दोनों ही मतवादों के विषय में कुछ भी एकान्त रूप से कहना दोषपूर्ण है। यही कारण है कि बुद्ध ने इन वादों से संबंधित सभी प्रश्नों का उत्तर या तो निषेधरूप से दिया या अव्याकृत बतलाया। उन्होंने स्वयं कहा है कि मृत्यु के बाद तथागत होते हैं या नहीं? जीव नित्य है या नहीं? ऐसे प्रश्न सार्थक नहीं है। ये प्रश्न न तो ब्रह्मचर्य के लिए उपयोगी है, न निर्वेद के लिए, न अभिज्ञा के लिए, न सम्बोधि के लिए और न निर्वाण के लिए ही। इसीलिए मैं इन्हें अव्याकृत कहता हूँ। मैं भूतकाल में था कि नहीं था? मैं भूतकाल में क्या था? मैं भूतकाल में कैसा था? मैं भूतकाल में क्या होकर फिर क्या हुआ? मैं भविष्यत् काल में होऊँगा कि नहीं? मैं भविष्यत् काल में क्या होऊँगा? मैं हूँ कि नहीं? मैं क्या हूँ? मैं कैसा हूँ? यह सत्त्व कहाँ से आया? यह कहाँ जायेगा? आदि प्रश्नों को उन्होंने असमीचीन कहा। उनका कहना है कि भिक्षुओं! असम्यक् प्रकार से धारण करने पर अनुत्पन्न आस्रव उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न आस्रव बढते हैं।[१०] अतएव इन आस्रव संबंधी प्रश्नों में लगना साधक के लिए अनुचित है। इन सभी प्रश्नों को छोड कर चार आर्य सत्यों में लगना ही निर्वाण फलदायक है। तथागत मरणान्तर होता है या नहीं? ऐसा प्रश्न अन्य तीर्थिकों को अज्ञान के कारण उत्पन्न होता है। उन्हें रूपादि का अज्ञान होता है।[११] अतएव वे ऐसा प्रश्न करते हैं। वे रूपादि को आत्मा समझते हैं या आत्मा को रूपादी युक्त समझते है, या आत्मा में रूपादी समझते है, या रूप में आत्मा को समझते हैं जबकि तथागत वैसा नहीं समझते।[१२] अतः तथागत को वैसे प्रश्न भी नहीं उठते और दूसरों के ऐसे प्रश्न को वे अव्याकृत कहते हैं। मरणान्तर रूप, वेदना आदि प्रहीण हो जाते हैं।

अतएव अब प्रज्ञापना के साधन रूपादि के न होने से तथागत के लिए "है" या "नहीं है" ऐसा व्यवहार किया नहीं जा सकता। अतएव मरणान्तर तथागत "है" या "नहीं है" इत्यादि प्रश्नों को मैं अव्याकृत बताता हूँ।[13] मरणान्तर तथागत कि स्थिति को अव्याकृत कहने का एक कारण यह भी हो सकता है कि परमतत्त्व कुछ इतना गुह्य है कि उसके आद्योपान्त का न तो ज्ञान ही संभव है और न इन अशक्त शब्दों (भाषा) से कथन ही संभव है, क्योंकि वह तो अपरिमेय है, अगम्य है, अगोचर है, फिर उसका विधि मूलक वर्णन भी तो उसको संकीर्ण सीमाओं से आबद्ध कर संकुचित कर देता है। बुद्ध ने कहा है कि जैसे गंगा के बालू की नाप नहीं, जैसे समुद्र की गहराई का पता नहीं, वैसे ही मरणोत्तर तथागत भी गम्भीर हैं। अप्रमेय हैं। अतएव अव्याकृत हैं।

इसी प्रकार जीव और शरीर के भेदाभेद के प्रश्न को भी उन्होंने अव्याकृत बताया है। उनका कहना था कि जीव और शरीर एक है या भिन्न? इस विषय में भी कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदि शरीर को आत्मा से भिन्न माना जाय तो ब्रह्मचर्यवास संभव नहीं है और यदि अभिन्न माना जाय तो ब्रह्मचर्यवास संभव नहीं। अतएव इन दोनों अन्तों को छोडकर मध्यम मार्ग का अनुगमन करना ही उचित है। इस प्रकार बुद्ध ने उक्त सभी प्रश्नों को या तो अव्याकृत कहा या उन्हें असमीचीन कह कर टाल दिया। ऐसी बात नहीं है कि बुद्ध उन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकते थे। वे उन सभी प्रश्नों का उत्तर समुचित ढंग से दे सकते थे । परन्तु उनके समक्ष तीन समस्यायें थी १. सत्ता का गूढतम् स्वरूप। २. जन सामान्य में सत्ता के यथार्थ परिचयात्मक ज्ञान का अभाव। ३. भाषा की सीमायें।

ये समस्यायें ऐसी हैं जो बुद्ध को मौन रहने के लिए बाध्य कर दिया। सत्ता के गूढतम् स्वरूप के यथार्थ ज्ञान के अभाव में यदि जन सामान्य से कुछ कहा जाय तो वह तथ्य को यथावत् नहीं समझ सकता है बल्कि लक्ष्य से हटकर कुछ और भी समझने लगेगा। फलतः वह पथभ्रष्ट हो सकता है क्योंकि भाषा भी मात्र संकेत कर सकती है यथावत् अनुभूति नहीं करा सकती। अतः यहाँ मौन रहना ही श्रेयस्कर है ऐसा बुद्ध ने सोचा।

इस तरह भगवान् बुद्ध तत्त्व के रहस्य, भाषा की सामर्थ्य और जनता की स्थिति को समझने के बाद जनता को प्राचीन आचार्यों की भांति, इस तरह नहीं समझाना चाहते थे कि परमात्मा एक राजा की तरह है जो समस्त प्रजा पर शासन करता है।

हमारे अच्छे कर्म का अच्छा और बुरे कर्म का बुरा फल प्रदान करता है। वह यह नहीं बताना चाहते थे कि हमारी आत्मा उसी तरह पुरानी जीर्ण-शीर्ण शरीर को छोडकर नयी शरीर धारण करती है जिस तरह हम पुराने वस्त्रों को छोडकर नये वत्रों को धारण करते हैं। इस तरह के उपदेश से जनता गुमराह होती है और ऐसे विचार ही हमारी सारी सामाजिक बुराईयों के उद्गाता हैं क्योंकि वास्तविकता इस तरह की नहीं है। वह तत्त्व तो इतना रहस्यमय है, इतना गूढ है कि उसके विषय में इन अक्षम शब्दों द्वारा यथार्थतः कुछ भी कह पाना संभव नहीं हैं जो कुछ भी हम उसके विषय में कहते हैं वह आंशिक सत्य होता है, यथार्थ एवं पूर्ण सत्य से काफी दूर होता है और उस आंशिक ज्ञान से पूर्ण ज्ञान पर पहुँचना असंभव है। भगवान् बुद्ध आंशिक ज्ञान देकर सात अंधों की कहानी को चरितार्थ नहीं करना चाहते थे। इसलिए वे चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति तत्त्व की अनुभूति स्वयं करें क्योंकि अनुभूति के द्वारा ही तत्त्व का सत्य ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। भाषा के द्वारा तत्त्व का विश्लेषण करके उसका यथार्थ ज्ञान कराना कथमपि संभव नहीं है। यही कारण है कि उन तत्त्वों के विषय में पूछे जाने पर वे मौन हो जाया करते थे या उसे अव्याकृत कह देते थे। यह बात जैन दर्शन भी स्वीकार करता है इसका विवेचन हम पूर्व में कर आये हैं। इस तरह जैन का अवक्तव्य और बौद्ध का अव्याकृतवाद कुछ अर्थों में बिल्कुल एकार्थक हो जाता है।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. श्लोकवार्तिक २/१/६/५६/४७७/६
२. सप्तभंगीतरंगिणी, पृ. ६0
३. वहीं, पृ. ७0
४. श्लोकवार्तिक, २/१/५६/४७७/६
५. दार्शनिक त्रैमासिक वर्ष १८, अंक २, अप्रैल १९७२, पृ. ११३
६. वहीं
७. राजवार्तिक १/२६, उद्धृत – जैन भाषा दर्शन, पृ. ८२
८. दीघनिकाय १, पोट्ठपाद सुत्त
९. मज्झिम निकाय, भाग २, २ : १ (सव्वासवसुत्त)
१०. वहीं.
११. संयुत्तनिकाय पालि भाग, ३, ४४ : ८ (अव्याकृत संयुत्त)
१२. वहीं, भाग २, ४४ : ८ (व्याकृतसंयुत्त)
१३. वहीं, भाग ३, ४४ : ८

पुस्तक–समीक्षा

आलोक टण्डन

दर्शन के सरोकार, लेखक डा0 सरोज कुमार वर्मा, अमिधा प्रकाशन मुजफ्फरपुर, २०१२, पृ0–१२८, मू0–२००/–

आम शिकायत है कि आज दर्शन शास्त्र जीवन और जगत की समस्याओं से विमुख होकर भाषा और तार्किक विश्लेषण की गलियों में भटक गया है। ऐसे में डा0 सरोज कुमार वर्मा की पुस्तक 'दर्शन के सरोकार' एक सुखद हवा के झोंके की तरह है। इसमें संकलित बारह निबन्ध उनकी इस पूर्व–मान्यता की पुष्टि करते हैं कि दर्शन 'जिन्दगी को उसकी सम्पूर्णता और गहनता में छूने–परखने का आग्रह करता है।' उनकी स्थापना है कि 'आज पूरी दुनिया और दुनिया के सारे मनुष्य जिन अन्तर्विरोधों से जूझ रहे हैं, उसके बीज दर्शन में ही छुपे हुये हैं और इसलिये उन अन्तर्विरोधों को दूर करने के सूत्र भी दर्शन में ही तलाशने होंगे। आइये देखें कि अलग–अलग सन्दर्भो में लिखे गये ये निबन्ध आज के वक्त के अन्तर्विरोधों को पकड़ कर, विश्लेषित करने और उन्हें दूर करने के सूत्र तलाशने में कहाँ तक सफल हो पाये हैं।

लेखक का यह दावा उचित ही जान पड़ता है कि इन लेखों में काल–भिन्नता के बावजूद तत्त्व–भिन्नता नहीं है। अलग–अलग विषयों पर लिखे जाने के बावजूद इनकी पृष्ठभूमि में वैचारिक स्थापना एक ही है। सभी लेखों के सांगोपांग विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक दर्शन में आध्यात्मिक दृष्टि का समर्थक है और भौतिकवाद का विरोधी। इतना ही नहीं, वह आज के मनुष्य की समस्याओं के मूल में भौतिकवाद की विश्व दृष्टि और जीवन दृष्टि को चिन्हित करता है। तकनीक समर्थित आधुनिक विकास की अवधारणा को तद्जन्य हिंसा, पर्यावरण संकट और उपभोक्तावाद के आधार पर प्रश्नांकित करता है और प्राचीन भारतीय नैतिक आदर्श प्रणाली–पुरुषार्थ की अवधारणा के सहारे वर्तमान अन्तर्विरोधों का हल प्राप्त करने की वकालत करता है।

संग्रह का पहला ही लेख 'भौतिकवाद बनाम अध्यात्मवाद' पर है। इसमें उन्होंने दर्शन के दो आधारभूत सिद्धान्तों – भौतिकवाद और अध्यात्मवाद की तत्त्व मीमांसीय, ज्ञान मीमांसीय और नीति मीमांसीय स्थापनाओं का स्पष्ट विवेचन और तुलनात्मक

अध्ययन प्रस्तुत किया है। साथ ही यह भी स्थापित करने का प्रयत्न किया है कि आज के संकट का आधारभूत कारण दर्शन का भौतिकवादी सिद्धान्त है। इस भौतिकवादी दर्शन के दुष्परिणाम को अधिक ठोस, सघन, व्यापक और दीर्घकालिक बनाने का काम विज्ञान ने किया है। उसकी खोजों की अनिवार्य परिणति उपभोक्तावाद में हुई है। आध्यात्मिक सत्ता को मूल मानने वाला अध्यात्मवादी दर्शन ही हमें इस संकट से बचा सकता है। उन्हीं के शब्दों में – "भूत को अन्तिम सत्य नहीं मानने के कारण यह सिद्धान्त सिर्फ शारीरिक सुख की हीं वकालत नहीं करता, बल्कि चेतना को मूल मानने के कारण आत्मिक आनन्द को परम लक्ष्य घोषित करता है। स्वभावत: इसमें भौतिक उपलब्धियों का अंबार लगाने और उसका अधिकाधिक भोग करने की प्रवृत्ति नष्ट होती है और जीवन में सादगी, संतोष, त्याग तथा अपरिग्रह आदि सद्गुणों का प्रस्फुटन होता है।" (पृ० १९-२०)

ऐसा लगता है कि अद्वैतवादी अध्यात्म के समर्थन में लेखक अति-सरलीकरण का शिकार हो गया है। भौतिकवाद बनाम अध्यात्मवाद की बहस को प्राचीन भौतिकवाद (चार्वाक) को केन्द्र में रखकर नहीं जीता जा सकता, उसे तो आज विज्ञान समर्थित भौतिकवाद की चुनौती का सामना करना होगा। यहाँ यह भी पूछना समीचीन होगा कि क्या उपभोक्तावाद की गिरफ्त में फंसे सारे मनुष्य दार्शनिक रूप से भौतिकवाद के समर्थक हैं? हाल में हुये एक सर्वे के मुताबिक अमेरिका की सत्तर प्रतिशत जनता ईश्वरवादी है, भारत में यह आंकड़ा तो और भी ज्यादा होगा। हमें भौतिकवाद के तत्त्व-मीमांसीय सिद्धान्त और नीति-मीमांसीय सिद्धान्त में भेद करना चाहिए। पहला जगत की संरचना की व्याख्या करता है तो दूसरा जीने के प्रति एक नैतिक दृष्टिकोण मात्र है। एक तथ्यात्मक है तो दूसरा मूल्यात्मक। दोनों में आवश्यक तार्किक सम्बन्ध नहीं है। सदियों से पूर्व व पश्चिम दोनों में अध्यात्मवादी दर्शन का ही तो वर्चस्व रहा है फिर भी आज के संकट को वह नहीं रोक पाया, हल करने की बात तो दूर रही। भारत में भी आध्यात्मिक गुरुओं की बाढ़ और उपभोक्तावाद का तांडव एक साथ ही चल रहा है।

अपने अगले निबन्ध 'स्वधर्म : एक पुनर्व्याख्या' में गीता में वर्ण व्यवस्था के आधार पर 'स्वधर्म' की व्याख्या को बदले वर्तमान संदर्भ में अप्रासंगिक करार करते हुये लेखक ने नये ढ़ंग से 'स्वभाव या प्रवृत्ति के आधार' पर पुनर्व्याख्यायित करने का

प्रयास किया है। उनके अनुसार यही व्याख्या आज प्रासंगिक है। व्यक्ति को अपने पेशे का चुनाव अपनी रुचि, प्रवृत्ति और स्वभाव के अनुसार करना चाहिये। जहाँ यह सम्भव न हो वहाँ मिले हुये कार्य को नैतिक कर्तव्य और लोक कल्याण की भावना के साथ अधिकाधिक ईमानदारी से सम्पन्न करना चाहिये, यही उसका स्वधर्म होगा। इसी प्रकार परिवार, उम्र, साम्प्रदायिकता, भूमंडलीकरण के सन्दर्भ में भी स्वधर्म की व्याख्या की गई है। किन्तु लगता है कि स्वभाव और कर्तव्य में अन्तर स्पष्ट नहीं है। इसी कारण नैतिक असमंजस, दुविधा, टकराव की स्थिति में स्वधर्म की ठीक से व्याख्या करना मुश्किल है। एक व्यक्ति जो रुचि-स्वभाव से कलाकार बनना चाहता है किन्तु पारिवारिक जिम्मेदारी के निर्वहन के लिये किसी अवांछित काम को करने के लिये मजबूर है, ऐसे में उसका स्वधर्म क्या होगा?

अपने अगले लेख 'जैन, अहिंसा और विश्व शान्ति' में जैन दर्शन में अहिंसा की अवधारणा - कायिक अहिंसा से वैचारिक अहिंसा तक के विकास का सम्यक विवेचन करते हुये डा0 सरोज वर्मा एक विचारणीय प्रश्न हमारे सामने रखते हैं कि 'इतनी गहरी, इतनी मुकम्मल, इतनी उपादेय और इतनी प्रासंगिक होने के बावजूद, अहिंसा जनजीवन में व्याप्त क्यों नहीं हुयी?' स्वयं इसका उत्तर देते हुये वे कहते हैं कि एक नैतिक आचरण की तरह उसे बाहर से व्यक्तित्व पर आरोपित करने का प्रयास किया गया, अन्दर से प्रतिफलित होने नहीं दिया गया। यह प्रतिफलन आत्मज्ञान से ही सम्भव हो सकता है। आत्म ज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति का आचरण अपने आप अहिंसक हो जाता है। वे आचार्य रजनीश को उद्धरित करते हैं 'अहिंसा को लाना नहीं होता, अहिंसा आती है। लाना होता है स्व-स्थिति को।' इसका मतलब यह है कि एकबारगी पूरी दुनिया अहिंसक नहीं हो सकती। यह धीरे-धीरे व्यक्तियों में सम्भव है। फिर क्या विश्व शान्ति के लिये हजारों साल से प्रस्फुटित न हो पायी जैन अहिंसा का इन्तजार करना होगा? क्या गांधी की अहिंसा, अहिंसा नहीं थी? क्या दूसरे की हिंसा का प्रतिरोध करने के लिये अहिंसक प्रतिरोध बेमानी है?

'शंकराचार्य के दर्शन में ज्ञान की अवधारणा' शीर्षक लेख अपने विषय से न्याय करता प्रतीत होता है। डा0 राधाकृष्णन् की मान्यता से सहमत न होते हुये वे मानते हैं कि शंकर ने ज्ञान के तीन नहीं छः साधनों को स्वीकार किया है - प्रत्यक्ष, अनुमान, शास्त्र, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। डा0 वर्मा ने प्रामाण्यवाद और भ्रम-

सिद्धान्त से जोड़कर शंकर की ज्ञान मीमांसा का विस्तृत विवेचन किया है। किन्तु, शायद स्वयं अद्वैतवाद के समर्थक होने के कारण वे शंकर की ज्ञान मीमांसा की आलोचना करने से चूक गये।

'कबीर के दार्शनिक सरोकार' में लेखक ने कबीर को एक अद्वैतवादी दार्शनिक के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया है जो तत्त्व मीमांसीय दृष्टि से उचित ही प्रतीत होता है। कबीर के अनुसार भी मूल तत्त्व संख्या में एक और स्वरूप में चेतन है। यह सारा संसार उसी चेतन सत्ता की अभिव्यक्ति मात्र है। यद्यपि कबीर उस सत्ता के लिये 'राम' शब्द का प्रयोग करते हैं किन्तु उनका राम निर्गुण, निरपेक्ष और निराकार सत्ता ही है। उनका राम उनके गुरु रामानुज के राम की तरह सगुण नहीं हैं। कबीर पर डा० वर्मा, अन्य विद्वानों की तरह, इस्लामी प्रभाव स्वीकारते हैं। 'लेकिन कबीर पर इस्लामी एकेश्वरवाद का प्रभाव भले हो, परन्तु वे एकेश्वरवादी है नहीं। हैं वे अद्वैतवादी ही।' ऐसा लेखक का विचार है। कबीर का माया विचार, मोक्ष प्राप्ति का उपाय ज्ञान को मानना उन्हें शंकर के करीब ला देते हैं। दर्शन की दुनिया में कबीर को [illegible]क्षत स्थान दिलाने की यह कोशिश प्रशंसनीय है। साथ ही हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि कबीर ऐसा सामाजिक व्यंग्य/सरोकार अन्य किसी अद्वैतवादी में नहीं मिलता, ऐसा क्यों? कबीर पर अनेक पुस्तकों का हवाला देते समय यह विश्वसनीय नहीं लगता कि पिछले सालों में प्रकाशित डा० पुरुषोत्तम अग्रवाल की पुस्तक 'अकथ कहानी प्रेम की' का जिक्र करना लेखक कैसे भूल गये? शायद यह लेख उसके प्रकाशन से पहले का हो।

संग्रह में वैचारिक दृष्टि से सबसे उत्तेजक लेख 'धर्म के वैज्ञानिक अध्ययन की सम्भावना, इधर हाँ, उधर नहीं' है। धर्म के दो पक्ष – आन्तरिक और बाह्य स्वीकारते हुये लेखक ने यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि धर्म के बाह्य पक्ष का वैज्ञानिक अध्ययन संभव और अपेक्षित है जबकि धर्म के आन्तरिक पक्ष का वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव नहीं है। इसके पीछे उनका तर्क है कि आन्तरिक धर्म, भावना पर आधारित विशेष अभिवृत्ति है, जो अपने अलौकिक आराध्य के प्रति उन्मुख रहती है और उसके प्रति पूर्ण आस्था रखती है, लेकिन विज्ञान द्वारा इस अनुभूति और आस्था का अध्ययन नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक अध्ययन लौकिक पदार्थों तक ही सीमित है, अलौकिक सत्ता उसके दायरे में नहीं आती। धर्म और विज्ञान की विधियों

में भी भिन्नता है। इसके अलावा धर्म मूल्यपरक होता है और विज्ञान तथ्यपरक। इस विभेद के कारण भी धर्म का वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव नहीं है। धर्म के आन्तरिक पक्ष के वैज्ञानिक अध्ययन की इस असम्भावना के साथ धर्म के बाह्य पक्ष के वैज्ञानिक अध्ययन की वकालत करने के पीछे लेखक का उद्देश्य धर्म को रूढ़ियों, अन्धविश्वासों तथा साम्प्रदायिक झगड़ों से मुक्त करना है। उनका तर्क है कि यद्यपि कर्मकाण्ड को धर्म से पृथक नहीं किया जा सकता किन्तु वैज्ञानिक अध्ययन से यह समझ पैदा की जा सकती है कि कर्मकाण्डों की भिन्नता से धर्म के आन्तरिक तत्त्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वैज्ञानिक अध्ययन धर्म से जुड़े उन अंधविश्वासों को भी दूर किया जा सकता है जो धर्म को शोषण का तंत्र बनाते हैं। तार्किक विश्लेषण से रूढ़ियों, कुरीतियों और झूठे विश्वासों के चंगुल से भी आदमी निजात पा सकता है। निष्कर्ष के रूप में लेखक ओशो के साथ खड़े हैं। 'वैज्ञानिक चिन्तन के आधार पर धार्मिक चिन्तन को खड़ा करना है। धार्मिक चिन्तन से मुक्त नहीं हो जाना है। वैज्ञानिक बुद्धि बाहर की व्यवस्था करे और धर्म को मनुष्य की भीतर की व्यवस्था करने दें।' (पृ० ७३)

कहा जा सकता है कि सदियों से धर्म मनुष्य के भीतर की व्यवस्था ठीक करने का दावा करता रहा है किन्तु उसके परिणाम निराशाजनक हैं। जिस रहस्यात्मक अनुभूति की चर्चा लेखक ने की है, वह अधिकांश अनुयायियों की होती ही नहीं और जिनको होती है वे स्पष्ट रूप से कुछ कह नहीं पाते। यदि विज्ञान अनुभूति - आस्था पर विचार ही नहीं कर सकता हो फिर अन्धविश्वास और तार्किक विश्वास के बीच दीवार कैसे खींची जा सकती है? भविष्य में जब विज्ञान चेतना के रहस्यों पर से पर्दा उठा देगा तभी हम धार्मिक अनुभूति की वास्तविकता से परिचय पा सकेंगे। इसलिये धर्म के वैज्ञानिक अध्ययन को केवल धर्म के बाह्य पक्ष तक सीमित रखना उचित नहीं जान पड़ता। वर्तमान में योग, ध्यान, समाधि का वैज्ञानिक अध्ययन प्रारम्भ हो चुका है। हमें उनके नतीजों का इन्तजार करना चाहिये।

संग्रह का सबसे रोचक और वर्तमान जीवन शैली के अन्तर्विरोध पर चुटीला कटाक्ष करता लेख 'उपभोक्तावादी जीवन में योग : उद्देश्य का विस्थापन' है। जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है, त्याग को केन्द्र में रखने वाला योग, आज भोग का उपक्रम बन गया है, योग का यह अवमूल्यन ही लेखक की चिन्ता का विषय है। भारत में योग

की एक लंबी परम्परा रही है, जिसे शीर्ष पर पहुंचाने का कार्य महर्षि पतंजलि ने किया। उन्होंने बिखरे हुये सूत्रों को संकलित करके एक व्यवस्थित, सम्यक रूप प्रदान किया। उनसे पहले और बाद, सभी ने भोग का उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति बताया है। किन्तु आज यह उद्देश्य आध्यात्मिकता से विस्थापित होकर भौतिक हो गया है। इसे रोग दूर करने और शारारिक स्वास्थ्य ठीक रखने का साधन मात्र समझा जा रहा है। योग चिकित्सा विज्ञान नहीं है किन्तु इसी रूप में प्रयुक्त हो रहा है। इसके पीछे उपभोक्तावाद है, अनियंत्रित भोग से उत्पन्न शारीरिक रोग और मानसिक विकृतियों से बचने की चाह है, ऐलोपैथिक दवाओं का दुष्प्रभाव है, अधिक उत्पादन के लिए तनाव से मुक्ति की जरूरत है। लेखक ने यह प्रश्न भी उठाया है कि क्या कारण है कि सालों से हमारे पास होने पर हमने योग को वह मूल्य नहीं दिया जो आज दे रहे हैं? इसके पीछे योग को पश्चिम में मिली स्वीकृति ही है। यह हमारी मानसिक गुलामी का ही लक्षण है। एक आध्यात्मिक अनुशासन का शारीरिक व्यायाम में तब्दील हो जाना निश्चय ही चिन्ता का विषय है। आज जब योग का यह नया अवतार संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा समादृत हो चुका है, यह और गहरी सोंच की मांग करता है।

आगे के दो निबंधों- 'विकास, तकनीक और मानवीय मूल्य' तथा 'पर्यावरण और विकास' को 'भौतिकवाद बनाम आध्यात्मवाद' की आगे की कड़ियों के रूप में ही देखा जा सकता है। विकास की आधुनिक अवधारणा भौतिक विकास को ही विकास का एकमात्र मानदंड मानती है। इसमें उद्योगों द्वारा अधिकाधिक वस्तुओं का उत्पादन और उनका अधिकाधिक उपभोग ही लक्ष्य रहता है। तकनीक की सहायता से दोनों में बेतहाशा वृद्धि होती जाती है। इस प्रकार एक ऐसी भोगवादी जीवन शैली का जन्म होता है जहाँ मनुष्य जरूरी और गैर जरूरी चीजों में अंतर किये बगैर ज्यादा से ज्यादा भौतिक चीजों का उपभोग कर लेना चाहता है। परिणाम नैतिकता के अवमूल्यन और पर्यावरण विनाश के रूप में सामने आता है। वे इसके लिए सुखवाद के सिद्धांत को भी दोषी ठहराते हैं। विकल्प के रूप में लेखक ने भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति की आधारशिला पर सार्थक विकास की अवधारणा प्रस्तुत की है जिसमें विलासिता और विषमता के स्थान पर समता और सादगी के जीवन मूल्यों को अपनाया जाएगा जिससे पर्यावरण को संकट में डाले बिना सभी लोगों की बुनियादी जरूरतों को पूरा करना संभव हो सकेगा। उत्पादन और उपभोग के असीम विस्तार

की जगह आत्म नियंत्रण बल दिया जाएगा। किन्तु सवाल वही पुराना है कि यह सब करेगा कौन? कैसे होगा यह सब? केवल पुरूषार्थ की महत्ता दर्शाने से तो यह काम होने वाला नहीं। हमें यह भी सोचना चाहिए कि विकास के आधुनिक पूंजीवादी मॉडल में ऐसा क्या आकर्षण है कि हम अनायास ही, एक महती आध्यात्मिक परम्परा के वाहक होते हुए भी, उसे अपनाते चले जा रहे हैं? यह सही है कि विकास के आधुनिक मॉडल में आर्थिक विकास और नैतिक विकास में अन्तर्विरोध है किन्तु क्या केवल नैतिकता के उपायों से उसे दूर किया जा सकता है?

उपर्युक्त लेखों के अतिरिक्त भी संकलन में तीन लेख हैं – 'भारतीय कला का मूल तत्त्व', 'अनुशासन का दार्शनिक परिप्रेक्ष्य' और 'लोकायत दर्शन : एक तथ्यात्मक विमर्श'। लोकायत दर्शन की प्राचीनता के बारे में किसी को संदेह नहीं है लेकिन उसका कोई ग्रन्थ अब तक उपलब्ध न होने से उसके बारे में हम उसके विरोधियों के कथनों से ही जानते रहे हैं। कुछ समय पहले ही गुजरात से जयराशि भट्ट द्वारा ८-९वीं शताब्दी में रचित एक ग्रन्थ 'तत्त्वोपप्लव सिंह' उपलब्ध हुआ है जिसकी चर्चा भी लेख में अपेक्षित थी। अतिप्राचीन भौतिकवादी परम्परा के ग्रन्थों की अनुपलब्धता महान आध्यात्मिक परम्परा के अनुयायियों की नैतिकता के सामने प्रश्न चिन्ह भी लगाता है जिसकी चर्चा भी लेख में जरुरी थी।

यह मान लेने के बाद कि भारतीय परम्परा का मूल तत्त्व अध्यात्म है, यह मानने में कोई विसंगति नहीं दिखती कि यहाँ की सारी कलायें, अपने बोध से लेकर उद्देश्य तक, आध्यात्मिक हैं। इस स्थापना की सत्यता का परीक्षण इस समीक्षक की क्षमता से परे है। अतः यह किसी अन्य कला-विशेषण की अपेक्षा रखता है। किन्तु लोक-कलाओं के बारे में भी ऐसा कहना शायद मुश्किल होगा।

यह मानते हुये कि शिक्षा का उद्देश्य आत्म विवेक जगाना है न कि अनुशासन, लेखक ने बाह्य अनुशासन को थोपने के स्थान पर आन्तरिक अनुशासन पर ठीक ही बल दिया है। किन्तु छात्रों से आत्म बोध, अद्वैत पर आधारित आत्मानुशासन की अपेक्षा करना कुछ ज्यादा ही अपेक्षा करना लगता है।

लेखों के ऐसे किसी भी संकलन में बिखराव और दोहराव का खतरा बराबर रहता है। अद्वैतवादी दृष्टि से सभी लेखों को एक डोर में पिरोने में लेखक ने इस संकलन में सफलता पायी है जो एक उपलब्धि ही कही जायेगी। अलग-अलग समय पर लिखे गये लेखों में दोहराव से बचना शायद सम्भव नहीं है, इसलिए यह कमी तो है। एक

बड़ी विशेषता लेखक की साफ, सुथरी, सहज, सुबोध भाषा और वाक्य संरचना है जो जटिल विषयों को भी पाठक तक सरलता से संप्रेषित करने में सक्षम है। कहीं-कहीं उद्धरणों की अधिकता से लेखक का अपना मन्तव्य दब सा गया है। छपाई की भूल से कहीं-कहीं पंक्ति के अंत में आधा शब्द और अगली पंक्ति के प्रारम्भ में आधा शब्द मुद्रित हुआ है (पृ० २२, २५) जो अगले संस्करण में सुधारा जा सकता है। इसके बावजूद लेखों का यह संकलन न केवल दार्शनिकों बल्कि आम पढ़े लिखे लोगों द्वारा पढ़ा जाने योग्य है क्योंकि यह हमारी परम्परा और हमारे समय के बीच एक संवाद प्रस्तुत करता है। आप सहमत हों न हों, सोचने को तो विवश हैं। लेखक इसके लिये बधाई के पात्र हैं।

पुस्तक समीक्षा

डॉ. पूर्णेन्दु भोखर

आधुनिक युग बनाम् भारतीय जीवन-सूत्र

***समय से संवाद*; लेखक डॉ आलोक टण्डन; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, दिल्ली; प्रथम संस्करण 2015; पृ०-१३२, मूल्य -२५०/-**

समय से संवाद का लक्ष्य वस्तुतः किसी निरपेक्ष तत्त्वमीमांसीय काल (टाईम) की अवधारणा के किसी भी विमर्श को विस्तार देना नहीं है, बल्कि इस प्रपंचात्मक जगत् में होने वाले विविध परिवर्तनों को चिह्नित करना, क्रमिक एवं व्यवस्थित ढंग से उद्‌घाटित करना एवं उनसे प्रभावित जीवन के लिए एक बेहतर विकल्प की तलाश करना है। लेखक इसमें समस्त जागतिक समस्याओं को स्पर्श करने का न तो दावा करते दीखते हैं और न अपने तलाशे विकल्प की खोज की यात्रा को अंतिम ठहराने का गर्व-भाव ही दिखलाते हैं। परंतु, इतना अवश्य है कि जिन मुद्दों को लेकर वे बढ़ते हैं उन मुद्दों के लिए पाठक को दो महत्त्वपूर्ण ईंट जोड़ने अथवा दो कदम चलने के लिए विवश करते हैं। प्रवाहमान संसार में नित नई समस्याएँ उभरती हैं और उनके समाधानों के विकल्प की खोज फिसलती हुयी अगले विकल्प पर खिसकती भी रहती है। परिवर्तन चिह्नित करना, उन्हें स्पष्ट करना, उनके समाधान स्वरूप विकल्प के लिए विचार स्थिर करना कोई स्थायी एवं स्थिर प्रक्रिया नहीं है। इसलिए जिम्मेदार चिंतक की तरह लेखक आधुनिक विश्व, भारतीय समाज एवं भारतीय मानव पर अपना विमर्श फोकस करते हैं ताकि चिंतन प्रवाह की सातत्यता के बावजूद विशिष्ट समय की समस्याओं को लेकर संवाद हो सके। निरंतर प्रवाह में उभरते अनवरत मुद्दों के बीच आज का मानव इस संसार में किस तरह के मूल्यों का बहिष्करण, ग्रहण, निर्वहन, निर्धारण, पालन एवं संवर्धन करे लेखक के *'समय से संवाद'* का यही मुख्य अभीष्ट है। लेखक की सफलता यही है कि वे समस्याओं को बखूबी चिह्नित करते हैं, स्पष्ट करते हैं और उनके समाधान के लिए वैचारिक रूप से अपने तत्पर, सजग, सुचिन्त्य एवं व्यवस्थित प्रयास से पाठक को भी विमर्श के इसी तल पर लाकर खड़ा करने में सफल हो जाते हैं।

लेखक प्रारम्भ में ही हमें इस तथ्य से रूबरू करा देते हैं कि (1) प्रौद्योगिकी ने जीवन के हर क्षेत्रों में काया-पलट कर दी है और (2) आधुनिकता ने, कम से कम, मानव की जीवन-शैली के प्रत्येक आयाम को विचार के लिए खोल दिया है। जहाँ परंपरागत जीवन-शैली का केन्द्र बिन्दु धर्म है वहीं आधुनिक जीवन-शैली प्रौद्योगिकी के विकास पर निर्भर है। हॉलाकि आज जिस तरह प्रौद्योगिकी ने हमें

बेवश कर दिया है, लेखक उस मूर्च्छा एवं तंद्रा को भंग करने का मंत्र देते हैं– 'हम अनुकरण को अभिशप्त नहीं हैं', जिसकी गूंज गांधी के *हिन्द स्वराज* में शताब्दी पूर्व सुनी जा सकती है। बेलगाम भोगवादी प्रवृत्ति, स्वार्थवादी प्रवृत्ति, सुविधापरस्ती ने कहीं हमें प्रौद्योगिकी का गुलाम तो नहीं बना दिया है? मनुष्य के मात्र 'व्यक्तित्वहीन उपभोक्ता' में तब्दील हो जाने की चिंता लेखक को इस पर विमर्श करने के लिए भीतर तक झकझोरती है। इसलिए लेखक प्रौद्योगिकी की प्रकृति से ही इस विमर्श की शुरूआत करते हैं। लेखक का मानना है कि यह अब एक विचारधारा बन गई है। (पृ 1) वे लिखते हैं कि 'अब यह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया भी है।' (पृ 6) यह किसी एक ही मांग को सृजित नहीं करती, बल्कि विविध मांग को बार–बार सृजित एवं विस्तारित करती है। लेखक को लगता है कि इस स्थिति से उबरने के लिए चिंतन का आकाश खोलना आवश्यक है। निर्णयवाद, निर्माणवाद एवं अनिर्णयवाद – इन तीन दृष्टियों को प्रौद्योगिकी के उपर विचार के लिए लेखक महत्त्वपूर्ण रूप से शामिल करते हैं। निर्णयवादी दृष्टि वैकल्पिक भविष्य की संभावना को ही नकार देती है। भविष्य–निर्माण का द्वार निर्माणवाद में खुलता दीखता है लेकिन कई विकल्पों में से किसी एक का ही चयन सामाजिक कर्त्ता द्वारा हो पाता है। अनिर्णयवादी दृष्टि से विचार करने पर प्रौद्योगिकी की वैकल्पिक संभावनाओं का बेहतर मार्ग खुलता दीखता है। चूंकि लेखक को लगता है कि यह तकनीकी एवं सामाजिक दोनों तरह के कारकों से प्रभावित होती है। अतः प्रौद्योगिकी समाज का निर्धारक नहीं हो सकता है। कोई प्रौद्योगिकी सामाजिक मूल्यों से संगत होकर ही सामाजिक प्रभुत्त्व प्राप्त कर सकती है। तर्कबुद्धिपरकता आधुनिकता का चरम सांस्कृतिक मूल्य है। परंतु लेखक को लगता है कि तकनीकी बुद्धिपरकता सार्वभौमिक नहीं अपितु पूंजीवाद की एक विशेषता मात्र है। लेकिन (1) सामाजिक कार्य और (2) सामाजिक क्षितिज प्रौद्योगिकी के चयन की सापेक्षता को उजागर करने में सहयोगी होगा। यहां पर लेखक के द्वारा हाइडेगर की चुनौती देने वाली (चैलेंजिंग फोर्थ) एवं प्रकटीकरण करने वाली (बृगिंग फोर्थ) प्रौद्योगिकी की चर्चा रोचक लगती है। इस क्रम में हाइडेगर विकल्प की तलाश में कब मानवीय कर्तृत्व को कम करके आंकने लग जाते हैं शायद हाइडेगर को ज्ञात नहीं हो पाता है।

लेखक की सफलता इस बात को स्थापित करने में दिखती है कि प्रौद्योगिकी का विकास पूंजीवादी वातावरण में हुआ है; जिसका उद्देश्य अधिकतम लाभ अर्जित करना है; और जिसके लिए समस्त सामाजिक जिम्मेदारियों से पल्ला झाड़ना तथा ऐच्छिक उद्देश्य की पूर्ति एवं प्राप्ति में अनैच्छिक परिणाम को नजरअंदाज कर दिया जाना – इसकी विशेषता है। फलस्वरूप प्रौद्योगिकी एक वर्ग विशेष का प्रभुत्त्व कायम करने वाला अस्त्र बन जाता है। लेखक को इस प्रभुत्त्व को चुनौती देने

वाला विकल्प 'प्रजातंत्रात्मक यांत्रिकीकरण' की परिकल्पना में दीखता है। लेकिन 'प्रजातंत्रात्मक यांत्रिकीकरण' की अवधारणा एवं उसकी अनुप्रयुक्तता के लिए और अधिक विमर्श अपेक्षित रह जाता है।

प्रौद्योगिकी, आधुनिकता एवं पूंजीवादी नियति से जूझने का समाधान संभवतः लेखक को *हिन्द स्वराज* के पुनर्पाठ में दीखता है। यहां भी वि य विज्ञान, प्रौद्योगिकी, एवं आधुनिक सभ्यता के इर्द गिर्द घूमता है। जब लेखक लिखते हैं कि आधुनिकता ने मनुष्य को सृष्टि नहीं स्रष्टा के स्थान पर प्रतिष्ठित किया है (पृ.–28) और पूर्व के अध्याय में वे मानव की स्थिति प्रौद्योगिकीय आधुनिक युग में 'व्यक्तित्वरहित उपभोक्ता' मात्र बताते हैं तो प्रौद्योगिकी को लेकर हमारा द्वंद्व मुखर हो उठता है। आधुनिकता समस्याग्रस्त नहीं, दुविधाग्रस्त भी है (पृ. 29)। आज उन समस्याग्रस्तता का हल खोजना ही सामाजिक दार्शनिक चिंतन का केन्द्रीय वि य है। *'हिन्द स्वराज'* आधुनिकता एवं सभ्यता के पाश्चात्य मॉडल की समीक्षा करता है और सत्याग्रह के द्वारा वैकल्पिक सभ्यता (सर्वोदय, स्वराज्य) एवं वैकल्पिक आधुनिकता को रेखांकित करता है। इस आलेख में लेखक भारतीय आधुनिकता के मॉडल के वैकल्पिक प्रारूप को खंगालने की कोशिश करते हैं।

इसमें यंत्र के दुरुपयोग एवं ऐन्द्रिय भोगवादी सभ्यता पर गहरी चोट है। गांधी भोग की हद बांध देते हैं। स्प ट है कि पश्चिमीकरण और मशीनीकरण का विरोध वास्तव में औपनिवेशिक सत्ता और संस्कृति का विरोध है, पश्चिम मात्र का विरोध नहीं है। रॉबर्ट यंग इसे 'काउंटर मॉडर्निटि' (Counter modernity) कहते हैं जिससे लेखक सहमत नहीं होते हैं। लेखक गांधी को 'साम्राज्यवादी विरोधी आधुनिकता' के प्रतिनिधि के रूप में देखते हैं जिसमें सामाजिक आवश्यकता और नैतिकता का अटूट संतुलन है। *'हिन्द स्वराज'* वस्तुतः एक मूल्य व्यवस्था की रचना करता है जिसमें 'स्व' एवं 'अन्य' दोनों के व्यापक सम्मान एवं विस्तार की संभावना है। गांधी के 'हिन्द स्वराज' एवं मार्क्स–एन्जेल्स के *कम्युनिस्ट मेनिफ़ेस्टो* में भेद है, लेखक, इसे भी रेखांकित करते हुए *हिन्द स्वराज* को एक प्रभावशाली यूटोपिया की हैसियत देते हैं और मानते हैं कि जहाँ से यात्रा प्रारम्भ की जा सकती है।

चतुर्थ आलेख पवित्र साधन की तलाश की कड़ी को बढ़ाता है। गांधी के लिए सत्याग्रह के बिना सांची सभ्यता, सर्वोदय एवं स्वराज्य की स्थापना असंभव है। लेकिन युग बदला है, युग धर्म भी बदला है इसलिए इसकी सफलता एवं असफलता के वस्तुनिष्ठ एवं आत्मनिष्ठ कारकों को खंगालने एवं उसे बेहतर बनाने के स्पष्ट प्रयास ही इस आलेख का अभीष्ट है। इस आलेख की उपलब्धि यही है कि वे सत्याग्रह की असफलता के कारकों का आइना दिखाने में सफल हो जाते हैं। सत्याग्रह की असफलता में बदली परिस्थिति में सत्याग्रही का किसी व्यापक हित के

लिए लंबे संघर्ष के लिए सुदीर्घ, निरंतर और समर्पित साहस, धैर्य एवं चरित्र का न होना एक मिसिंग लिंक है। इन मिसिंग लिंक की तलाश में लेखक मदद करते हैं और सत्याग्रह का नया स जनात्मक स्वरूप विकसित करने का आग्रह भी करते हैं ताकि आज के समय में इसे अधिक कारगर एवं प्रासंगिक बनाया जा सके।

गांधी को आधुनिकता के विरोधी एवं उत्तर आधुनिक सिद्ध करने की होड़ में लेखक अपने को उक्त पंक्ति से अलग खड़ा करते हैं। उनके अनुसार गांधी को किसी एक मॉडल पर फिट नहीं किया जा सकता है। "गांधी एक वैकल्पिक सभ्यता के प्रतिनिधि के रूप में हमारे सामने आते हैं जिसमें पूर्व–आधुनिक, आधुनिक और उत्तर आधुनिक तीनों धाराओं का संगम है, जिनको अलगाना आसान नहीं है।" (पृ. –26) *'गांधी : आधुनिक या उत्तर आधुनिक'* इस आलेख में लेखक इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। वैसे यह सच है कि भिन्न–भिन्न स्तरों में जीने वाले भारतीय समाज का बहुत बड़ा वर्ग आधुनिकता एवं उत्तर आधुनिकता की पाश्चात्य अवधारणा को स्पर्श ही नहीं कर पाया है।

इक्कीसवीं सदी में कुछ मुद्दे ऐसे हैं, जिनके लिए चिंतन को भिन्न ढंग से व्यवस्थित करने की जरूरत है। दलित–मुक्ति, संभोग के उच्चतम रूपांतरण की संभावना, राजनीति और नैतिकता आदि कुछ ऐसे ही मुद्दे हैं। ये प्रौद्योगिकीय युग की समस्या से भिन्न लगते हैं लेकिन संपूर्ण मानवता की रक्षा के संघर्ष से दलित–मुक्ति के विमर्श को अलग नहीं किया जा सकता है। लेखक का दलित–मुक्ति के संबंध में बीज वाक्य है 'हिन्दू धर्म और परंपरा के दायरे में दलित–मुक्ति संभव नहीं है' (पृ. –83)। चूंकि यह हिन्दू धर्म की व्यवस्था का ही एक अंग है (पृ. 83)। समझने की आवश्यकता है कि वर्ण और जाति भेद हिन्दू धर्म की सिर्फ आध्यात्मिक व्यवस्था नहीं है, यह संपत्ति और उत्पादन के भौतिक साधनों के वितरण की भी व्यवस्था है। इसी बिन्दु पर लेखक को दलित मुक्ति की कल्पना के साकार होने की संभावना दीखती है। इस तथ्य का उद्‌घाटन कि अम्बेडकर को लगा कि भारतीय राज्य को सामाजिक और आर्थिक रूप से नि पक्ष बनाना ऐतिहासिक रूप से संभव नहीं है – इसी कारण उन्होंने नवगठित भारतीय राज्य को संवैधानिक रूप से तटस्थ बनाने की मुहिम लाई – यह तंद्रा–भंग करता है कि डॉ. अम्बेडकर किस हद तक भारतीय सामाजिक व्यवस्था को समझते थे एवं उसके निर्माण में नाजुक पक्षों की गंभीरता के प्रति कितने सजग एवं सावधान थे। फिर भी "भारतीय लोकतंत्र दलितों के प्रति सिर्फ अप्रत्यक्ष पक्षधरता का गुनहगार बनकर रह गया। किन्तु यही अप्रत्यक्ष गुंजाईश उनके मौजूदा सामाजिक मुकाम, उनकी राजनीतिक ताकत और उनके भविष्य के सपनों को ठोस आधार भी प्रदान करती है (पृ. 85)। हॉलाकि इसकी परिणति यह हुई है कि इस व्यवस्था में सामाजिक समरसता (सौहार्दता) का लक्ष्य कभी हासिल न करने वाला

लक्ष्य बनकर रह गया। लेखक का मानना है कि गांवों के आर्थिक विकास किये बिना केवल वर्ग–संघर्ष एवं दलित राजनीति से दलितोद्धार या उनका भाग्य नहीं बदलने वाला है। इसके लिए जाति प्रथा को समाप्त करना आवश्यक है। पर इतना अवश्य है कि इसका जवाब गैर द्विज जातिवाद कदापि नहीं है जो एक भटकाव है। लेखक को 'जातिवाद की समाप्ति एवं सवर्णों के प्रायश्चित में इसका समाधान दीखता है। किंतु लेखक जातिवाद समाप्ति का उपाय नहीं बतलाते हैं। वैसे जातिवाद की समाप्ति एवं सवर्णों का प्रायश्चित्त दोनों जटिल एवं लंबी प्रक्रिया को आत्मसात किए हुए है।

हिन्द स्वराज के पुनर्पाठ की तरह लेखक ओशो रजनीश के *'संभोग से समाधि की ओर'* का पुनर्पाठ भी करते हैं। प्रस्तुत लेख ओशो के काम, आध्यात्म और विवाह–संबंधी विचारों का आधुनिक संदर्भ में समीक्षा का छोटा–सा प्रयास मात्र है (पृ. 90)। इस पुस्तक के पहले आलेख के साथ इस विमर्श का सूत्र भी जोड़ा जा सकता है। इतना तय है कि प्रौद्योगिकीय आधुनिक युग में समाज में नारी की स्थिति में परिवर्तन के साथ–साथ प्रेम, विवाह और परिवार की परिभाषाएं भी बदलने लगी है। इस आलेख से लेखक विवाह, प्रेम–विवाह, लिव–इन–रिलेशन एवं समलिंगी सम्बन्ध के विकल्प के विमर्श को अनजाने में छेड़ देते हैं। हॉलाकि मूल प्रश्न है 'व्यक्ति और समाज में काम का क्या महत्त्व है, एक श्रेष्ठ जीवन में उसकी क्या मर्यादाएं होनी चाहिए (पृ. 91)। ओशो ने काम के संबंध में दृष्टि बदलने की कोशिश की है। उन्होंने विवाह को अप्रत्यक्ष रूप से नकारा और प्रेम एवं प्रेम रूपी विवाह को शुभ बताया। प्रेम यदि विवाहपूर्व जन्म ले सकता है तो विवाहोत्तर वह जन्म ले ही नहीं सकता है एवं विवाह यदि कलहों का क्रीड़ांगन है तो प्रेम विवाह कलहों का क्रीड़ांगन हो ही नहीं सकता है – इन निश्चयात्मक निष्कर्ष पर ओशो कैसे आते हैं, उनका आधार ही खोखला लगता है। ऐसा कहना चाहिए कि विवाह को व्यर्थ, निरर्थक एवं सबसे खराब व्यवस्था बतलाना आज एक सामाजिक आस्तिकता एवं आधुनिकता का प्रतीक मान लिया गया है।

विवाह या कोई संबंध कलहों का क्रीड़ांगन न हो यह वैयक्तिक एवं सामबंधिक परिपक्वता, प्रतिबद्धता, दीर्घ उत्पादकता, शुद्धता आदि पर निर्भर है, जिसकी कमी व्यष्टियों में होती है, विवाह में नहीं। ऐसा लगता है कि ओशो संभोग की उर्जा को आध्यात्मिक सेक्स (प्रेम) में रूपांतरित करने में एवं प्रेम विवाह को विवाह के विकल्प के रूप में प्रतिष्ठित करने में असफल हो गए हैं। काम में आध्यात्मिकता आ ही नहीं पाती और व्यापक आध्यात्मिकता या उच्चतम ज्ञानावस्था (समाधि) में 'काम' काम रह ही नहीं जाता है। दोनों के बीच सही मायने में कोई ब्रिज प्रिंसिपल नहीं मिल पाता है। लेखक भी इस निष्कर्ष पर आते हैं कि 'विवाह का कोई सार्थक

विकल्प उपलब्ध नहीं है' (पृ. 100) सामाजिक पहलू की अवहेलना करने से ओशो संभोग से समाधि तक पहुँचने में असफल हो जाते हैं। लंबे समय तक कर्त्तव्य निर्वाह एवं लोकहित की निरन्तर वृद्धि ही विवाह के सामने किसी अन्य विकल्प को टिकने नहीं देता है। मेरा मानना है कि मूल्यों के दरकने मात्र को किसी सुदीर्घ एवं श्रेष्ठ व्यवस्था से पल्लू झाड़ने का अवसर नहीं समझना चाहिए। इतना ही नहीं समाधि तक पहुँचने के कई और विकल्प हैं। विवाह के विविध रूप, विवाह के दायित्व', सोलह संस्कार, ऋण की अवधारणा, पुरुषार्थ आदि को केन्द्र में लाकर इस विमर्श के व्यापक आकाश में पाठक विचरण कर सकते हैं।

आज राजनीति और नैतिकता बड़ा ही प्रासंगिक मुद्दा है। लेखक सार्त्र के कथन से राजनीति में चिह्नित धर्म–संकट (गंदे हाथों) की ओर संकेत करते हैं। लेखक दो दृष्टियों को सामने लाते हैं (1) जो नैतिकता को राजनीतिक स्वार्थ के आगे सदैव वरीयता देते हैं (कांट) (2) जो राजनीतिक स्वार्थ के आगे नैतिकता को त्याज्य अथवा अतिवादी मानते हैं (मैक्यिावैली)। इस क्रम में विमर्श को आगे बढ़ाते हुए मेक्स बेबर एवं माइकेल वाल्जर के विचारों को रेखांकित करना राजनीति एवं नैतिकता की दुविधाओं का गांठ और अधिक स्पष्ट ढंग से खोलता है। लेखक बतलाते हैं कि आधुनिक प्रजातंत्र में राजनीतिक पद पर आसीन किसी राजनयिक को ऐसे तीन कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता है जो उसे व्यक्तिगत नैतिकता से परे सोचने पर मजबूर करता है। (पृ. 122) लेकिन कुल मिलाकर गंदे हाथों की परिघटना का रोचक विवेचन और उसके राजनीतिक संदर्भों की व्याख्या हमें राजनीतिक नैतिकता का नया मॉडल गढ़ने की जरूरत की ओर संकेत करती है। इसी की स्थापना इस आलेख की सार्थकता सिद्ध करती है।

भूमंडलीकरण, आधुनिकता की ही तार्किक परिणति है, किंतु नये संदर्भों में उसने नया अर्थ और गति ग्रहण कर ली है, जिसकी ओर ध्यान देना जरूरी है। हार्वे भूमंडलीकरण को समय–स्थान संकुचन (time-space-compression) कहते हैं। (पृ. 104) जहाँ तक सांस्कृतिक अस्मिता का प्रश्न है तो पहला तरीका संकीर्ण, बंद और सनातन–सारवादी का है और दूसरा ऐतिहासिक, खुला और सर्वसमावेशी है। लेकिन भूमंडलीकरण विश्व पूंजीवाद का ताजा–तरीन संस्करण है। (पृ. 106) यह सांस्कृतिक समरूपता को बढ़ावा दे सकता है, (पृ. 106) जिससे वर्चस्वशाली देश की संस्कृति कमजोर देश की संस्कृति पर हावी हो सकती है (सांस्कृतिक साम्राज्यवाद)। इस संबंध में लेखक वरिष्ठ समाजशास्त्री प्रो. योगेन्द्र सिंह से सहमति जताते हुए कहते हैं कि यह वैश्विक एवं स्थानीय के बीच के संबंध की पुनर्रचना में भी सहयोगी हो रहा है। लेकिन भारत में परिवार, जाति और धर्म के संबंध अभी भी मजबूत हैं जो सांस्कृतिक पहचान को मजबूत आधार प्रदान करते हैं। इतना ही

नहीं लेखक यह मानते हैं कि इस समय संस्कृति को राष्ट्र–राज्य की सीमाओं में बांधकर रख पाना संभव नहीं है लेकिन राष्ट्र की संप्रभुता के महत्त्व को नकारा भी नहीं जा सकता है। राष्ट्रीय संप्रभुता, सांस्कृतिक स्वायत्तता की अनिवार्य शर्त है (पृ. 110)। लेकिन आज अपनी अस्मिता के लिए इस तरह का निर्णय गलत होगा कि पश्चिमी संस्कृति का सभी कुछ त्याज्य है और हमारी सांस्कृतिक परंपरा में सभी कुछ पूज्य है जिसके लिए लेखक आलोचनात्मक विवेक एवं अपनी जिम्मेदारी को विकसित करने की आवश्यकता महसूस करते हैं।

आध्यात्म और नई सदी की चुनौती, एवं *इक्कीसवीं सदी की चुनौती और व्यावहारिक वेदांत* में लेखक नई सदी में आध्यात्म एवं व्यावहारिक वेदांत की प्रासंगिकता ढूंढते हैं जो रूचिकर एवं व्यवस्थित ढंग से हमारे समक्ष कुछ महत्त्वपूर्ण विचारों को स्पष्ट करते हैं। जो लोग दर्शन के मर्मज्ञ डॉ. देवराज एवं श्री शिव नारायण अग्निहोत्री (देवात्मा) को जानते हैं उनके लिए लेखक इन दोनों के मूल्य एवं नैतिकता–संबंधी विचार का फलक खोलते हैं जो ज्ञानवर्धक भी है एवं कुछ अनछुए परत को भी खोलता है।

यह पुस्तक कई लेखों (13) का संकलन है। कई विषयों में अन्तर्संबंध नहीं रहने पर भी उनका विमर्श खींचता है। कई लेखों में अन्तर्संबंध तलाशे जा सकते हैं। यौं तो इस संग्रह के सभी आलेख वैचारिक रूप से संवाद की सहभागिता के लिए प्रेरित करते हैं क्योंकि लेखक की शैली ही कुछ ऐसी है कि वे प्रत्येक विषय से संबद्ध *विविध* विमर्श के तार को झंकृत कर देते हैं। वे अपने ही कई तर्कों से जूझते हैं और परि कृत तर्कों की स्थापना के लिए हमेशा तत्पर एवं उन्मुख होते हैं। संवाद करने में प्रश्नों की स्पष्टता, विषयों की समसामयिकता, बेहतर तर्कों की खोज की व्याकुलता ही इस पुस्तक की सबसे बड़ी सफलता है। आधुनिकता, प्रौद्योगिकी, उत्तर आधुनिकता, दलित–मुक्ति, संभोग से समाधि, इक्कीसवीं सदी और व्यवहारिक वेदांत, भूमंडलीकरण आदि विषयों को रखकर लेखक इन सभी विमर्श में आधुनिक युग में भारतीय जीवन के सूत्रों की महत्त्वपूर्ण एवं प्रासंगिक तलाश करना कभी नहीं भूलते हैं। परंतु इतना अवश्य है कि कुछ आलेख लेखक का पसंदीदा लगता है, जिसमें चिंतन का सूक्ष्म प्रवाह, तर्कों का तरकश एवं विचार रूपी तीरों का पैनापन अंदर तक छूता है। अंत में लेखक की तरह यह कहना उपयुक्त लग रहा है कि बाकी क्या कुछ बन पाया, इसका निर्णय तो अब आपके हाथों में है। लेकिन ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है कि यह पुस्तक सुव्यवस्थित, सुचिन्त्य संवाद को आमंत्रित करने में सफल होगी एवं ज्ञान के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण अवदान देगी। इस उम्मीद एवं मंगलकामनाओं के साथ।

इस अंक के लेखक

१. डॉ. सागरमल जैन	: प्राध्यापक, प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड, शाजापुर (म. प्र.)
२. डॉ. अनेकान्त कुमार जैन	: व्याख्याता, जैनदर्शन विभाग, श्री. लाल ब. शास्त्री रा. सं. विद्यापीठ नई दिल्ली-१६
३. डॉ. रज्जन कुमार	: सहयोगी प्रा. एवं अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, एम.जे.पी. रोहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली-२४३००५ (उ.प्र.)
४. श्री. सुनील राऊत	: संशोधन सहायक, आय.पी. क्यू., परामर्श, दर्शनशास्त्र विभाग, सावित्रीबाई फुले पुणे विद्यापीठ, पुणे-४११००७
५. श्री. संदीप कुमार	: शोधार्थी, दर्शनशास्त्र विभाग, डॉ. हरिसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
६. डॉ. मनोज कुमार तिवारी	: दर्शन एवं धर्म विभाग, बी.एच.यू. वाराणसी.
७. डॉ. अनिल कुमार तिवारी	: सहायक प्राध्यापक, स्कूल ऑफ फिलॉसॉफी एण्ड कल्चर, श्री माता वैष्णोदेवी विश्वविद्यालय, कटरा, जम्मू
८. डॉ. नीतू बाफना	: शान्तीपुरा, जोधपुर (राजस्थान)
९. डॉ. बालेश्वर प्रसाद यादव	: सहायक प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी
१०. श्री. अनिल कुमार सोनकर	: शोधछात्र, दर्शन एवं धर्म विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-२२१००५ (उ. प्र.)
११. डॉ. ऋषभ जैन	: जनरल फेलो, (आय.सी.पी.आर.) १८, पुरानी बजरिया, ललितपुर, (उ.प्र.)
१२. श्री. सचिन्द्र जैन	: शोध छात्र, दर्शन विभाग, डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
१३. डॉ. भिखारी राम यादव	: एम आय जी १००, चाणक्य पुरी कॉलोनी, गया (बिहार) पिन को. ८२३००१
१४. डॉ. आलोक टण्डन	: ५३, अशराफ टोला, हरदोई-२४१००१, (उ.प्र.)
१५. डॉ. पूर्णेन्दु भोखर	: एसोसिएट प्रोफेसर स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग; तिलकामांझी भागलपुर विशवविद्यालय, भागलपुर-812002;

लेखकों हेतु निर्देश

- परामर्श (हिन्दी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है। इसमें विशुद्ध चिंतनपरक व दार्शनिक दृष्टिकोण के लेख स्वीकृत होंगे।
- लेख की स्वीकृति परीक्षक संपादकों के निर्णय पर निर्धारित होगी। अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जायेगी।
- संपादकों का प्रकाशित सामग्री से सहमत होना अनिवार्य नहीं है।
- प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतयोग्य हैं। यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं।
- पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व अधिकार पत्रिका का होगा।
- अन्यत्र पूर्व–प्रकाशित लेख पत्रिका में प्रकाशन हेतु स्वीकार्य नहीं होंगे।
- पत्रिका में अपनी पुस्तक के विज्ञापन हेतु प्रधान सम्पादक को लिखें।
- शोध–पत्र लेख की शब्दसीमा २००० से ५००० शब्द के बीच होनी चाहिये।
- लेख का फॉन्ट Kruti Dev ०१० आकार १४, Normal, अंग्रेजी फॉन्ट Times New Roman आकार १२, Normal एवं पंक्तियों के मध्य स्थान १.५ होनी चाहिये।
- संदर्भ एवं टिप्पणियाँ लेख के अन्त में एक अलग पृष्ठ पर दें। कृपया संदर्भ का पूर्व विवरण दें। संदर्भ इस प्रकार रखें : लेखक का नाम (उपनाम से प्रारंभ करते हुये), पुस्तक का शीर्षक (italic में), प्रकाशक, प्रकाशन–स्थान, प्रकाशन–वर्ष, पृष्ठ संख्या।
- पादटिप्पणियों को लेख के अंत में 'संदर्भ एवं टिप्पणियाँ' के अन्तर्गत रखें। यदि संदर्भ किसी जर्नल का है तो क्रमानुसार लेखक का नाम, लेख का शीर्षक, जर्नल का नाम (italic में), अंक सं, वर्ष, पृष्ठ सं. अंकित करें।
- लेखक अपना विवरण (नाम, पद, संस्थागत सम्बद्धता, पत्रव्यवहार का पता, फोन नं, ईमेल) एक अलग पृष्ठ पर लेख के अंत में दें।
- लेखक को सुझाव है कि लेख भेजने से पूर्व लेख की भाषा, वाक्य–विन्यास, मात्रा आदि सम्बंधी अशुद्धियों को जाँच लें ताकि समय की बचत हो सके।
- लेख की एक soft copy MS Word Format में निम्नलिखित ईमेल पते पर प्रेषित करें ipq1973@unipune.ac.in
- लेख की दो Hard Copies इस पते पर भेजें

प्रधान सम्पादक,
'परामर्श' (हिन्दी)
दर्शनशास्त्र विभाग,
सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय, पुणे– ४११००७

सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र विभाग के लिये प्रधान संपादक सुरजीत कौर चहल ने यह त्रैमासिक सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय मुद्रणालय में छपवाकर प्रसिद्ध किया।

परामर्श (हिन्दी) पंजीकरण सं. ३९८८९/७९

सागरमल जैन	:	हेमचंद्र की प्रमाणमीमांसा में प्रमाणलक्षण	१
सागरमल जैन	:	जैन दर्शन का नय सिद्धांत	९
अनेकान्त कुमार जैन	:	अनेकान्त की आध्यात्मिक चिन्तन धारा	१९
रञ्जन कुमार	:	कर्म, बंधन, मोक्ष : जैन और अद्वैत दृष्टिकोण	२९
सुनील राऊत	:	जैन दर्शन में स्त्री–मोक्ष संबंधी विचार– एक दार्शनिक समीक्षा	३७
संदीप कुमार	:	आचार्य भावसेन कृत वेद–प्रामाण्यवाद की समीक्षा	४९
मनोज कुमार तिवारी	:	जैन दर्शन एवं योगवासिष्ठ में आध्यात्मिक विकास की भूमियाँ	६७
अनिल कुमार तिवारी	:	जैन परंपरा में पर्यावरण	८३
नीतू बाफना	:	जैन आगमों में अपरिग्रह	९९
बालेश्वर प्रसाद यादव	:	अनेकान्तवाद : सर्वसमावेशी सांस्कृतिक सहभाव का दर्शन	१०९
अनिल कुमार सोनकर	:	सामाजिक नैतिकता की वर्तमान में प्रासंगिकता : जैन–धर्म के परिप्रेक्ष्य में	१२०
ऋषभ जैन	:	समन्तभद्र की दृष्टि में सर्वज्ञता का स्वरूप – रत्नकरण्ड श्रावकाचार के आधार पर	१३१
सचिन्द्र जैन	:	जैन दर्शन में मन का स्वरूप	१३९
भिखारी राम यादव	:	जैन अवक्तव्यता और बौद्ध अव्याकृतवाद – एक तुलनात्मक विवेचन	१४३
आलोक टण्डन	:	पुस्तक समीक्षा	१४९
पूर्णेन्दु भोखर	:	पुस्तक समीक्षा	१५७